जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 6 • जून, 2004

With best compliments from :

DEVICHAND, TEJRAJ, PUNAMCHAND
BHANWARLAL SANCHETI
(MARWAR JN., RAJASTHAN)

PC

PURNIMA
CUT PIECE CENTRE

Wholesale Dealers for
Suzuki, Sugam Fab, Tikautex, Garima
Suitings & Fancy Shirtings

6/1, Swathi Complex, M. P. Lane
Chickpet Cross, Bangalore 560053
Tel. : 22870796, 22269579

67/2, Sagar Market, D.K. Lane
Chickpet Cross, Bangalore 560053

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 • जून, 2004 • अंक 6

विमर्श

9
प्रो. कल्याणमल लोढा
श्रद्धा तत्त्व : एक विवेचन

15
चंद्रशेखर व्यास
नैतिकता : अर्थपूर्ण जीवन के लिए

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

23
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
मनुष्य होने का अर्थ

•

24
अनेकांत के आलोक में काल का अनावरण

32
मुनि महेंद्रकुमार
वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः

34
कहानी
भीष्म साहनी
खिलौने

40
कविता
उद्भ्रांत की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-अनासक्ति

शीलन

43
समणी डॉ. कुसुमप्रज्ञा
सामायिक आवश्यक का स्वरूप

47
समणी संगीतप्रज्ञा
स्तोत्र काव्य और आचार्य महाप्रज्ञ

52
पांडुरंग सदाशिव साने
गुरु-शिष्य : भरने के लिए झुकना

54
बालकथा
प्रदीप पंत
कौन छोटा : कौन बड़ा

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

अधिक धर्म किसे?

[1] दान पर भीखणजी स्वामी ने एक दृष्टांत दिया। पांच व्यक्तियों ने साझेदारी में चने की खेती की। 500 मन चने पैदा हुए। पांचों जनों ने विचार किया—'घर में धन तो बहुत है। इन चनों का दान कर धर्म कमाएं'।

एक व्यक्ति ने 100 मन चने भिखारियों को लूटा दिए। दूसरे ने 100 मन चनों के भूंगड़े भुनाए। तीसरे व्यक्ति ने 100 मन चनों की 'घूघरी' करके खिलाई।

चौथे व्यक्ति ने 100 मन चनों की रोटियां कराई और साथ में कढी बनाकर खिलाई।

पांचवें व्यक्ति ने 100 मन चनों का विसर्जन कर उन्हें छूने का भी त्याग कर दिया।

जो सावद्य-दान में पुण्य-धर्म बतलाते हैं, उन्हें पूछना चाहिए कि इनमें अधिक धर्म किसे हुआ?

[2] स्वामीजी ने दान के विषय में एक और दृष्टांत दिया। एक बूढ़ा आदमी भीख मांगता हुआ घूम रहा था। किसी ने अनुकंपा कर उसे सेर चने दिए। तब उस बूढ़े ने किसी से कहा—'एक आदमी ने तो मुझे सेर चने दिए, पर मेरे दांत नहीं हैं—इसलिए तुम इन्हें पीसके आटा बना दो।' तब दूसरी बहिन ने अनुकंपा कर चनों को पीस आटा बना दिया।

उसने आगे जा किसी से कहा—'मुझे एक धर्मात्मा ने तो सेर चने दिए। दूसरी बहिन ने उन्हें पीस आटा बना दिया। तुम मुझे उस आटे की रोटियां बना दो।' तब तीसरी बहिन ने उस सेर आटे में नमक और पानी मिला उसकी रोटियां बना दीं। वह रोटी खाकर तृप्त हो गया।

कुछ देर बाद उसे प्यास लगी।

तब वह आगे जाकर बोला—'है रे कोई धर्मात्मा, जो मुझे पानी पिलाए।' तब चौथी बहिन ने अनुकंपा कर सजीव जल पिलाया।

एक व्यक्ति ने सेर चने दिए, दूसरे ने पीसके आटा बना दिया, तीसरे ने रोटियां बना दीं, चौथे ने उसे पानी पिलाया। इन चारों में अधिक धर्म किसे हुआ? ❖

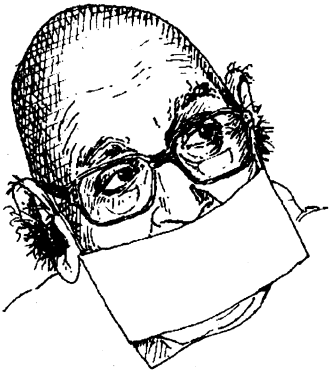

दो पथ हैं। एक पथ असंयम का है और दूसरा पथ संयम का है। असंयम का पथ आपदाओं से भरा है। संयम के पथ पर संपदाएं बिछी हैं। तुम्हें जो पथ अच्छा लगे, उसी पर चलो।

वैचारिक अनाग्रह के लिए यह एक आदर्श उदाहरण है। सब धर्मों के प्रवर्तक या उपदेशक इस आदर्श को स्वीकार कर लें तो साम्प्रदायिक अभिनिवेश को कभी प्रोत्साहन नहीं मिल सकता। किसी व्यक्ति की एक सम्प्रदाय में आस्था है। वह जिज्ञासु बन कर दूसरे संप्रदाय के तत्त्वदर्शन को समझना चाहे तो उसको अवबोध दिया जा सकता है। पर उसे दूसरे संप्रदाय में खींचने का प्रयत्न क्यों हो? यदि वह रास्ता सही है तो उसे स्वयं सोचना चाहिए। उसके पास मस्तिष्क है। वह उसका उपयोग क्यों नहीं करे?

—आचार्यश्री तुलसी

हर प्राणी जीवन जीता है, पर स्वस्थ और आनंदमय जीवन किसे कहा जाए? भारतीय संस्कृति में जीवन को परिभाषित करते हुए कहा गया है—जो शांत हो, संतुष्ट हो, पवित्र हो और आनंद से भरपूर हो, वही सही अर्थ में अच्छा जीवन है।

❑

चेहरा और चरित्र—ये दो अलग-अलग चीजें हैं। इनमें मूल्यवान कौन है? चेहरा सुंदर होने पर भी अगर चरित्र अच्छा नहीं है, तो उस सुंदरता का कोई मूल्य नहीं है। चरित्रशून्य व्यक्ति अनुपयोगी ही नहीं, खतरनाक भी है। धर्म का उपदेश है—चरित्र अच्छा हो, आचार पवित्र हो। उपासना यदि भाव-विशुद्धि के साथ की जाए, तो वह उपासना भी अच्छे चरित्र और पवित्र आचार में योगभूत बनती है। असहिष्णुता बहुत-सारी समस्याओं की जड़ है। सहिष्णुता के विकास पर लेखक यदि अपनी लेखनी चलाएं तो अनेक ज्वलंत समस्याओं को समाधान मिल सकता है।

—युवाचार्य महाश्रमण

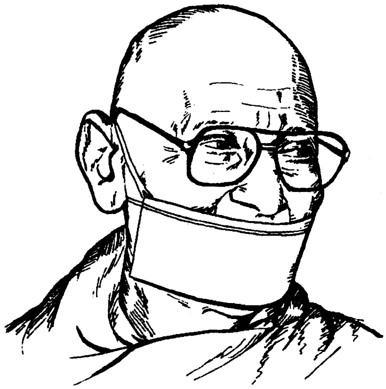

यदि चेतन से अचेतन पैदा हो सकता है तो अचेतन से चेतन पैदा क्यों नहीं हो सकता? इस प्रश्न का समाधान करना भी बहुत कठिन है। यदि दोनों को ही सच मान लें, संधि कर लें तो बात ठीक हो सकती है। इस स्थिति में यथार्थवाद बहुत समाधानकारक लगता है।

द्वैतवाद का मतलब है यथार्थवाद। दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है—चेतन का अपना अस्तित्व और अचेतन का अपना अस्तित्व। लोक-व्यवस्था का सूत्र है—न कभी ऐसा हुआ है, न कभी ऐसा होता है और न कभी ऐसा होगा कि जीव अजीव बन जाए और अजीव जीव बन जाए। जीव और अजीव—इन दोनों में अत्यंताभाव है। दोनों कभी भी एक-दूसरे में नहीं बदलते। यही है द्वैतवाद। द्वैतवाद का मतलब है—दुनिया में जो-कुछ भी है, उसका मूल कारण एक नहीं है, दो हैं। चेतन और जड़ की अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

आज परामनोविज्ञान के क्षेत्र में यह चर्चा का विषय है—शरीर और मन का संबंध कैसे हुआ? शरीर अचेतन—जड़ है और मन चेतन है। दोनों की स्वतंत्र सत्ता है तो दोनों का संबंध कैसे? यह एक समस्या है। इसका समाधान अनेकांत के द्वारा ही किया जा सकता है। शरीर का चेतना पर और चेतना का शरीर पर प्रभाव होता है, आचारांग की इस बात को स्वीकार करें तो समस्या को एक समाधान उपलब्ध होता है। उपनिषद एवं आचारांग और इनसे उपजने वाले द्वैतवाद-अद्वैतवाद केवल दार्शनिक पहेली ही नहीं हैं, हमारे जीवन व्यवहार से जुड़े हुए तत्त्व हैं। इनके आलोक में हम अपने जीवन-दर्शन की मीमांसा कर सकते हैं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा-अनासक्ति

जीवन में अनासक्ति कठिनतर है। जहां पग-पग आसक्ति में आकंठ डूबे हों, वहां अनासक्ति की बात क्या सपने दिखाने जैसी ही नहीं? एक दूसरा पहलू भी है कि आसक्ति से मुक्त वह तो हो सकता है जिससे कुछ किया-धरा ही न जा सके, पर जो सक्रिय है, समर्थ है—क्या वह भी अनासक्त हो सकता है? यही बात देखने-समझने की है। जैसे, जो सर्वशक्तिमान माना जाता हो, उसका अहिंसक होना ही सार्थक है, न कि किसी अशक्त व्यक्ति का। ठीक इसी तरह जो पुरुषार्थ में पचा-सना हो, जिसकी ऊर्जा और क्षमता अकाट्य हो—अनासक्त होना सचमुच उसी का उल्लेखनीय कहा जा सकता है। पुरुषार्थहीन या किसी अक्षम के लिए अनासक्त होना बेमानी है।

गीता का बहु प्रचलित पद—'तुझे केवल कर्म करने का अधिकार है, तू कभी अकर्मण्य होकर न रह और स्वयं को फल का हेतु मत समझ'—किसने नहीं सुना होगा। यह पद हमें दो बातें स्पष्ट बताता है। पहली, ठाले-निठुले न बैठे रहने की और दूसरी, जो-कुछ हम करें, उसके प्रतिफल का निमित्त स्वयं को न मानने की। 'यह मैंने ही किया है'—ऐसे अहंकारबोध से मुक्त रहने की सलाह इस पद में निहित है। कर्म और उसके फल के प्रति अनासक्त रहना ही अहंकारमुक्त होना है। यदि हम थोड़ा गहराई से विचार करें तो मानेंगे कि हिंसा की जड़ों को निराधार करने में भी अनासक्ति की भूमिका खासी असरदार हो सकती है।

महात्मा गांधी भी यह मानते और कहते हैं—'अनासक्ति में अहिंसा सहज रूप में आ ही जाती है।' यहीं पर गांधीजी फिर कहते हैं—'फलासक्ति के अभाव में न तो मनुष्य को झूठ बोलने का लालच होता है और न हिंसा करने का लालच होता है। हिंसा और असत्य के किसी भी कार्य का हम विचार करें, तो उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती ही है।'

कर्म और परिणाम—यह भी एक तरह से जटिल पक्ष है। कर्म करो और फल का हेतु स्वयं को न मानो—तो कौन हो इसका हेतु-निमित्त? क्या ऐसा होना उस फल के प्रति उत्तरदाई न होने जैसा नहीं? और ऐसी स्थिति में कि जब फल प्रतिकूल रहे, हम यह कहते हुए—'स्वयं को फल का हेतु मत समझ'—बच जाएं? गांधीजी इस पक्ष को काफी स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'फल-त्याग का अर्थ कर्म के परिणाम के विषय में लापरवाह रहना नहीं है। परिणाम का और साधन का विचार करना तथा दोनों का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। इतना करने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किए बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी कहा जा सकता है।' स्पष्ट है कि प्रतिकूल नतीजा आ जाए तो हम यह कहते हुए नहीं बच सकते कि—'स्वयं को फल का हेतु न समझ'—के सिद्धांत पर चलते हुए कर्म (कार्य) किया गया है। जाहिर है—उत्तरदायित्व से बच निकलने की कोई गुंजाइश नहीं है।

फल-त्याग अथवा अनासक्ति का सवाल महात्मा गांधी इतना कह अधूरा नहीं छोड़ते हैं। वे बतलाते हैं—'फल-त्याग का कोई ऐसा भी अर्थ न करे कि त्यागी को कर्म का फल नहीं मिलता। फल-त्याग का अर्थ है फल के विषय में आसक्ति का अभाव। वास्तव में फल का त्याग करने वाले को हजार गुना फल मिलता है।' यह कहते हुए गांधीजी आगे कहते हैं—'जो कर्म आसक्ति के बिना हो ही न सके, वे सब त्याज्य हैं—छोड़ देने लायक हैं। यह सुवर्ण-नियम मनुष्य को अनेक धर्म-संकटों से बचाता है। इस मत के अनुसार हत्या, झूठ, व्यभिचार आदि कर्म स्वभाव से ही त्याज्य हो जाते हैं। इससे मनुष्य जीवन सरल बन जाता है और सरलता में से शांति का जन्म होता है।'

अहिंसा और अनासक्ति के मध्य इतने गहरे और पवित्र संबंध निहित हैं—गांधी के उपरोक्त कथनों से हम सहज ही समझ सकते हैं। अतः यह मानना होगा कि अहिंसा की बात करते हुए हमें अनासक्त भाव को गहराई से समझना चाहिए। अहिंसा और अनासक्ति की अंतर्निहित धाराएं एक ही स्रोत से फूटती परिलक्षित होती हैं—यह मानते हुए हमें दोनों को समान दृष्टि से देखने, समझने और आत्मसात करने की जरूरत है।

वर्तमान समय में अहिंसा के मुद्दे पर सर्वाधिक चर्चा और बल आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से दिया जा रहा है। वे कहते हैं—'जिस प्रकार गांधीजी ने जो प्रयोग किए, जैसे—असहयोग, प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास, सविनय-अवज्ञा आदि—ये सब नई अवधारणाएं थीं, इनसे अहिंसा तेजस्वी बनी थी।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की यह स्पष्ट मान्यता है कि मनुष्य की प्रकृति को बदलने की क्षमता अहिंसा में ही है। वे कहते हैं—'अहिंसा व्यक्ति की उन्मुक्त स्वतंत्रता है। जो व्यक्ति हृदय की पूर्ण स्वतंत्रता से उसे स्वीकार करता है, वह परिस्थिति का सामना कर लेता है और अनैतिक आचरण नहीं कर सकता। इसका हेतु है—करुणा का विकास, आत्मोपम्य की भावना का विकास।'

करुणा और आत्मोपम्य भावना का विकास ही अंततः किसी को अनासक्त बना सकता है। हमारे मन में करुणा की सलिला जब सरसब्ज होगी और जब हम हरएक को अपने तुल्य समझने लगेंगे तो हिंसा या आसक्ति का दावानल स्वतः शांत होने लगेगा। अतः करुणा और आत्मोपम्य भावना के विकास की बातें अहिंसा और अनासक्ति को बलशाली बनाने के लिए आधार तत्त्व मानी जा सकती हैं। अब यह प्रश्न शेष रहता है कि इनका विकास किस तरह हो?

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'हिंसा की जड़ हमारे भीतर विद्यमान है और अहिंसा की जड़ भी हमारे भीतर विद्यमान है। किसको पकड़ना है और किसको विकसित करना है—यह सोचना है।' वे आगे बतलाते हैं—'ध्यान का प्रयोग इसीलिए है कि हम अहिंसा को जगा सकें और हिंसा को सुला सकें। ध्यान का अर्थ है जागरूकता, जगाना।' वे कहते हैं—'हमें जिस जागरूकता का विकास करना है, वह है अपने प्रति जागरूक होना। पदार्थ के प्रति हम बहुत जागरूक हैं, पर अपने प्रति जागरूक नहीं हैं। ध्यान का प्रयोजन है अपने प्रति जागरूक होना।' प्रकारांतर से इस बात का तात्पर्य यही है कि आज पदार्थ के प्रति जैसी आसक्ति हम में दिखाई देती है, उससे हम मुक्त हो जाएं।

प्रश्न उठता है कि ऐसे प्रयोग व्यापक स्तर पर कैसे शुरू हों? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'मैं सोचता हूं, शायद यह एक नया विचार हो सकता है, नई कल्पना हो सकती है। पर यह बहुत आवश्यक लगता है कि हिंसा की भांति अहिंसा का प्रशिक्षण भी अनिवार्य हो। अगर हिंसा के क्षेत्र में 10-20 लाख सैनिक काम करते हैं तो अहिंसा के क्षेत्र में 10-20 हजार सैनिक भी बनें तो एक नया चमत्कार हो सकता है।'

गांधी-विचारों में गहरी आस्था रखने वाले कई जन अहिंसक समाज संरचना में सक्रिय हैं और 'शांति सैनिकों' के नाम से कई छोटे-बड़े समूह बने हैं व काम होता रहा है। अभी भी ऐसे 'शांति-सैनिक' हैं जो हिंसा के बीच पहुंच कर अहिंसा के लिए वातावरण निर्माण करते हैं। पर लगता है कि यह सब रोग होने के बाद उपचार की क्रियाएं हैं। रोग ही न हो—ऐसी किसी क्रिया पर कुछ ठोस कदम उठने चाहिए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मंतव्य भी यही है कि हिंसा की भांति अहिंसा का प्रशिक्षण अनिवार्य हो जाए। उनके कथन से स्पष्ट है कि हिंसा के लिए तो प्रशिक्षण के प्रबंध हैं, पर अहिंसा के लिए नहीं हैं—जो कि होने चाहिएं।

ऐसे प्रशिक्षणों के लिए शिक्षण संस्थान श्रेष्ठ स्थल हो सकते हैं, पर जब इन संस्थानों में अहिंसा-प्रशिक्षण की बात की जाती है—तब यह बात भी देखनी ही चाहिए कि हमारा शिक्षण-प्रबंध, शिक्षा-प्रणाली, शिक्षा-पाठ्यक्रम भी क्या पूर्णत अहिंसक है? यदि शिक्षण संस्थानों को अहिंसा-प्रशिक्षण का केंद्र बनाएंगे तो इन सबको खंगालना भी जरूरी हो जाएगा। हमारी भाषा और शब्दावली पर भी जरा गौर करना होगा। तब क्या 'शांति सैनिक'—इस शब्द-युगल का प्रयोग हो सकेगा? क्योंकि 'सैनिक' शब्द का अर्थ अब हिंसा से मुक्त कहां रहा है? अतः अहिंसा-प्रशिक्षण की आवश्यकता और अनिवार्यता को मानने के साथ ऐसी बारीक बातों पर भी गौर आवश्यक है। अहिंसा-अनासक्ति का सुदृढ़ सेतु बनाते हुए ऐसी बहुत-सी बातें सामने आएंगी, जिन पर अब गंभीर विचार और निष्कर्ष की नितांत आवश्यकता समय का तकाजा है।

—शुभू पटवा

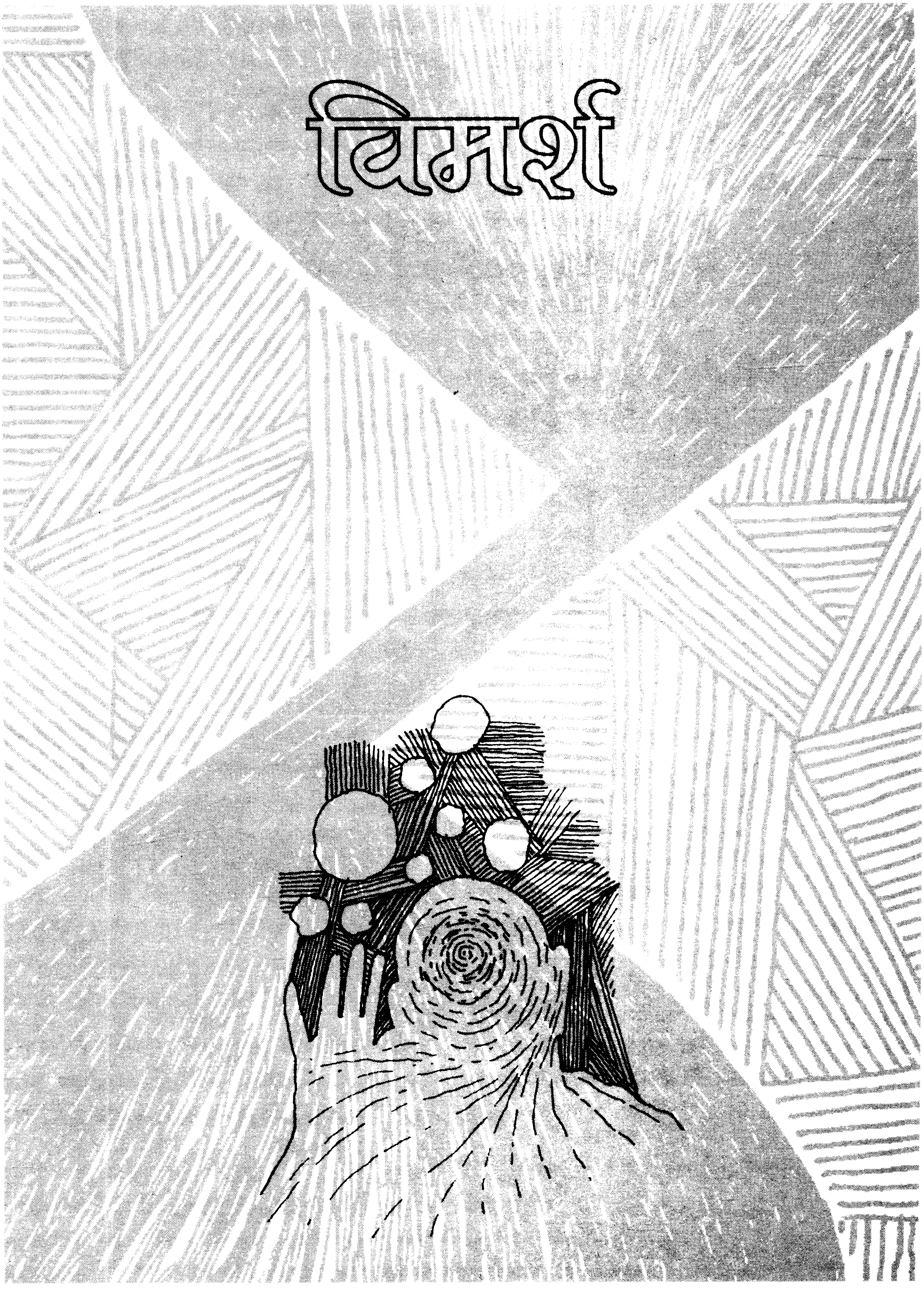
विमर्श

जब मनुष्य का आध्यात्मिक विकास काफी ऊंचा स्तर हासिल कर लेता है तो अलौकिक शक्ति में आस्था निरर्थक साबित होती है। सार्थक ज्ञान खयाली-पुलाव और तथाकथित इलहामी ज्ञान से बढ़कर है। उससे आदमी में अपने ऊपर निर्भर होने की क्षमता बढ़ती है। फिर उसके लिए यह जरूरी नहीं रह जाता है कि वह किसी अलौकिक सत्ता के सहारे जीवन-निर्वाह करे।

—एम.एन. राय

पुराण के अनुसार श्रद्धा और धर्म का निकट संबंध निदर्शित है। श्रद्धा बिना धर्मार्जन संभव नहीं। देवता भी श्रद्धाविहीन होकर धर्मलाभ से वंचित रहते हैं। श्रद्धा ही परम धर्म है। वही ज्ञान, तप, मोक्ष, होम और स्वर्ग है। समस्त विश्व श्रद्धाधीन है। अश्रद्धा कभी फलप्रद नहीं होती। श्रद्धा के बिना दान भी मिथ्या है।

श्रद्धावान लोग तप, ब्रह्मचर्य, शम, इंद्रिय दमन, त्याग, सत्य, शुद्धता, यम और नियम से पापों का त्याग करते हैं।

घनीभूत श्रद्धा ही सत्य का साक्षात्कार कराती है। 'यथार्थ तत्त्व श्रद्धा सम्यकत्व'—सम्यक्त्व का यथार्थ तत्त्व श्रद्धा है। आचार्य महाप्रज्ञ ने 'ज्ञानं दुग्धं दधि श्रद्धा' ज्ञान दूध है, श्रद्धा दधि है। प्रत्येक संकल्प की पूर्ति श्रद्धा से ही संभव है।

❑ श्रद्धा तत्त्व : एक विवेचन

❑ प्रो. कल्याणमल लोढा

श्रद्धा भारतीय दर्शन, अध्यात्म, संस्कृति और साहित्य का अन्यतम तत्त्व है। शायद ही ऐसा क्षेत्र है, जिसमें श्रद्धा का विवर्तन, निरूपण या निदर्शन नहीं हुआ हो। श्रद्धा भारतीय चिंताधारा का मूलाधार है। भारतीय ही क्यों अन्यान्य दर्शन, धर्म एवं संस्कृति में भी श्रद्धा को शीर्ष महत्त्व दिया गया है। भारतीय चिंतन में वह एक चरित्र भी है और तत्त्व भी, अर्थात् दर्शन, अध्यात्म एवं संस्कृति का महत्त्वपूर्ण उपक्रम। वह इनकी आधारशिला है।

श्रद्धा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है श्रत्+धा अर्थात् सत्य को धारण करने वाली श्रद्धा है। 'श्रद्धया सत्यमाप्यते'। कुछ विद्वानों ने 'श्रत्' का अर्थ 'हृद' भी किया है, जिसके आधार पर श्रद्धा का अर्थ 'हृदय' होता है। डॉ. आर. एन. दांडेकर ने इसी को स्वीकार किया है। सायण के अनुसार 'हृद' मनसा 'श्रद्धायुक्तेन मनसा' है। कोश ग्रंथों में वह 'संप्रत्ययस्पृहा' है, अर्थात् वह है आदरणीय आकांक्षा। मेदिनी कोश में कहा गया है 'श्रद्धाऽदरेचाकांक्षायाम्'। हलायुध ने श्रद्धा को स्पृहा, दोहृदः दोहृदं कहकर 'चेतः प्रसाद' कहा है। 'दोहृदः दोहृदं श्रद्धा, लालसा ये समाः स्मृताः'। शब्द रत्नावली में इसे 'चच्छेवेद जीविते श्रद्धा धर्म्मो यज्ञसिचात्मनः' कहा गया है। इन परिभाषाओं के अनुसार श्रद्धा सत्य को धारण करती है, वह हृदय है, आदरणीया आकांक्षा। सायण ने श्रद्धा को 'पुरुषगतोऽभिलाष विशेषः श्रद्धा इति सत्यनामसुपठितम्। सदस्याम् धीयते आस्तिक्येनेवम् एतद् इति श्रद्धा पुण्यकृतंमनोविशेषः' गिना है। महीधर इसे ही स्वीकार करते हैं। उनके मन में वह परलोक में विश्वास है। निरुक्त के अनुसार 'धर्मार्थ काम मोक्षेषु अविपर्ययो देवता भावाख्या श्रद्धेच्युत्यते' है। 'सत्यमस्य धीयते इति श्रद्धा' (देवत कांड 3-9) है। पातंजल योग-दर्शन में 'श्रद्धा वीर्यस्मृति समाधिप्रज्ञापूर्वकं इतरेषाम्' कहा गया है। वह 'चेतसः संप्रसादः' है। इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी हरिहरानंद ने कहा है कि 'श्रद्धा असंप्रज्ञात समाधि में चित्त का संप्रसाद है।' वह अभिरुचि व निश्चय वृत्ति है। वह उत्साह-बल है। स्मृति की व्याख्या करते हुए स्वामीजी कहते हैं 'अनुभूत ध्येय भाव का यथावत् बार-बार अनुभव करते रहना स्मृति साधना कहलाता है। श्रद्धाशील विवेकार्थी योगी वीर्य, वीर्य से स्मृति, स्मृति से ध्यानावस्था फिर प्रज्ञा-विवेक प्राप्त करता है।'

एक विशद आलेख की पहली कड़ी
दो किस्तों में समाप्य

नगेंद्रनाथ बसु के विश्वकोश में श्रद्धा के पर्याय आदर, शुद्धि, धर्मकार्यों में दृढ़ प्रत्यय, चित्त की प्रसन्नता आदि दिए हैं। वेदांतसार के अनुसार गुरु द्वारा उपदिष्ट वचनों में विश्वास ही श्रद्धा है, वह विश्वासमयी रागात्मक वृत्ति है। 'श्रद्धा वा आपः', 'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता' कहा गया है। उसे तेज एवं स्पृहा भी कहा गया है।

प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता।
नास्त्यन्यः श्रद्धास्य धर्मकृत्ये प्रयोजनम्॥ (स्मृति)

'श्रद्धानमिति श्रद्धा' भी कहा गया है। पुनः सायण में शंकराचार्य का कथन कि श्रद्धा अलौकिक तत्त्वों के प्रति आस्तिक्य बुद्धि है अर्थात् श्रद्धा अदृष्टार्थेषु कर्मसु आस्तिक्य बुद्धि देवतादिषुच'। श्रमण संस्कृति में श्रद्धा का अर्थ 'यथार्थ तत्त्व श्रद्धा सम्यक्त्वम् है'। अन्यत्र कहा है 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' श्रद्धा सत्य का साक्षात्कार कराती है।

वाल्मीकि रामायण (2-38-2) में स्पृहा, लालसा, विश्वास के अर्थ में यह प्रयुक्त है। मनुस्मृति में, शास्त्रों, धर्मकार्यों में एवं आप्तवचन में दृढ़ प्रत्यय को श्रद्धा कहा गया है। जैन वाङ्मय में श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय—तीनों पर्याय के रूप में यह प्रयुक्त है। विशुद्धा मार्ग में बौद्ध धर्मानुसार पांच इंद्रियों का कृत्य इस प्रकार है—'सद्धावदीनं पटि पारवाभिभवनसंपयुत्त धम्मानंच पसन्नाकारादि भावसम्पापनं' (अभिधम्म संगहो) में भी इसकी व्याख्या की गई है 'तत्त्वार्थाभिमुखीबुद्धि। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने गुण और शक्ति के विकास से अनुस्यूत स्थाई आनंदवृत्ति एवं विश्वास को श्रद्धा कहा है। श्रद्धा का उदय तर्क से नहीं होता। दंभ, गर्व और रागादि में उसका निषेध है।

श्रद्धे मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्धदिग्धास्यदंतान्।
भद्रान् ज्ञान वचसि निरतांस्तर्क वादैरदिग्धान्॥

श्रद्धा अमृतस्वरूपा है, जिससे व्यक्ति आत्माराम हो जाता है। ऋग्वेद में श्रद्धासूक्त ही है (10-15)। वहां इसका प्रातः, अपराह्न और संध्या में आह्वान किया जाता है। श्रद्धा से ही अग्नि तप होता है श्रद्धा उस पर कृपा करती है। वहां वह देवी रूप है—धन देने वाली। सायण ने इसका परिचय 'कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका' कहकर दिया है। पुनः 'श्रद्धा हृदयस्य आकृत्या श्रद्धया विंदते वसुः' (10-151-4) कहा है। वह हृदय की भावना है। ऋग्वेद में प्रार्थना है 'हे श्रद्धे! तुम हमें इस जगत में श्रद्धायुक्त करो।' (10-151-15)। ऋग्वेद की श्रद्धा प्रतीक है। उसके एक मंत्र में कहा गया है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धांभगमस्यमूर्ध निवचसा वेदयामसि॥(10-151-1)

श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित होती है। श्रद्धा से आहुति समर्पित की जाती है। श्रद्धा का विभूतियों में सर्वोच्च स्थान है। वेद पुनः कहता है 'हे श्रद्धे, आप दाता को अभीष्ट फल प्रदान करें। दानदाता को भी अभीष्ट फल प्रदान करें। याजकों को भी अभीष्ट फल दें। जिस प्रकार इंद्र ने आसुरों का नाश किया, उसी प्रकार देवगण और याजक मनुष्य वायुदेव के संरक्षण में श्रद्धा की उपासना करते हैं। हे श्रद्धे! आप हमें श्रद्धा से पूर्ण करें।'

श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित करने, श्रद्धा से हविष्य प्रदान करने तथा प्रेयस (सौभाग्य की) प्राप्ति के लिए उसे मस्तक पर धारण करना चाहिए। श्रद्धा का यह सर्वप्रथम निरूपण है। ऋग्वेद में 32 बार श्रद्धा का उल्लेख है। अग्नि संकल्पारूप क्रिया से ही श्रद्धा उपस्थित होती है। यजुर्वेद में भी ऋषि कहते हैं कि व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है। (19.30)। यज्ञ में अग्नि से समिधा स्थापित कर व्रत एवं श्रद्धा की उपलब्धि होती है। (20.24) 'सत्यं च मे श्रद्धा च मे यज्ञेतन क कल्पताम् (18.5)। यजुर्वेद के अनुसार—

दृष्टक रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापति॥ (9.77)

परमेश्वर ने श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही स्थापित की है और अश्रद्धा की अनृत में। जिनके मन में कषायों का अस्तित्व नहीं रहता, राग-द्वेषादि से जो हीन हैं, तर्क के परिणामों में विरसता है, उन्हीं के हृदय में श्रद्धा का उदय होता है, जो शिशुओं के समान भोले और अज्ञ हैं, यथा—

श्रद्धे! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्धदिग्धास्यदन्तान्।
भद्रानज्ञान वचसि निरतांस्तर्क वादैरदिग्धान्॥

अथर्ववेद में विराट पुरुष के दो नेत्र हैं—सत्य एवं ऋत और श्रद्धा प्राण है। 'सत्यंचर्तचक्षुषो विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट शिरः' (9.5.2)। श्रद्धा को परब्रह्म माना गया है। (उचिष्ट का अर्थ आचार्यों ने परब्रह्म लिया है) अथर्ववेद में श्रद्धा को आस्तिकाय बुद्धि (आदर) कहा गया है। इंद्र के स्तोत्रों में वह प्रयुक्त है। वह मति देती है—मेधा उससे ही प्राप्त होती है। (11.7.91)। ऐतरेय आरण्यक (2.9.7) में कहा है कि प्रजापति के मन में जल एवं वरुण की उत्पत्ति हुई, उनसे क्रमशः श्रद्धा और कर्म पैदा हुए। इसी से सायण जल से श्रद्धा की उत्पत्ति मानते हैं।

ब्राह्मण ग्रंथों में भी श्रद्धा का विशद वर्णन उपलब्ध है। यहां संक्षेप में उसका निदर्शन संभव है। शतपथ ब्राह्मण में श्रद्धादेव, श्रद्धायाम्, श्रद्धेयम् आदि से वह व्यवहृत है। इस ब्राह्मण में मनु और मानवी तथा वृषभ की बलि एवं आकुलि किलात का भी वर्णन है। मनु को ही श्रद्धादेव कहा

गया है। विद्वानों के अनुसार 'श्रद्धादेव' वह है, जो यज्ञ करने का इच्छुक है। सायण ने इसे 'श्रद्धेव देवो यस्य स श्रद्धादेव' कहा है। श्रद्धा जिसकी देवी है, वह श्रद्धादेव है। इस प्रकार मनु वह है, जिसके लिए श्रद्धा ही सर्वोपरि है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि शतपथ ब्राह्मण की कथा के अनुसार देवासुर संग्राम सतत होता है। इस ब्राह्मण में प्रयुक्त 'श्रद्धायाम्' का अर्थ है—'उसमें हमें विश्वास है।' डॉ. शेषगिरि राव प्रभृति विद्वानों ने श्रद्धा और दक्षिणा का पारस्परिक संबंध स्वीकार किया है। इसी ब्राह्मण में (11.2.7.20) इड़ा का भी उल्लेख है और यह स्पष्ट किया है कि इड़ा ही श्रद्धा है, जो इस तथ्य को जानता है वह श्रद्धा का पूर्ण ज्ञान रखता है और उसे समस्त पुण्य लाभ होते हैं। अन्यत्र इड़ा को मनु की आत्मजा भी कहा है। इस ब्राह्मण में श्रद्धा-अश्रद्धा का विवेचन भी है। कहा गया है कि ब्रह्मचर्य, तप और श्रद्धा से आत्मा को जानो— 'ब्रह्मचर्येण तपसा, श्रद्धयात्मज्ञानेनेति' (14.7.2.25)। कूर्मपुराण में 'श्रद्धायाः आत्मजः कामो दर्पो लक्ष्मीसुतः स्मृतः' कहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (111, 12.3.1) के अनुसार 'श्रद्धा देवा अधिवास्ते। श्रद्धा विश्वभू', 'श्रद्धा कामस्य मातरम्', 'श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी कामवत्सा अमृत दुहाना, श्रद्धादेवी प्रथमजा ऋतस्य विश्वस्यमूर्ति जगतस्य प्रतिष्ठा।' इसके साथ-साथ श्रद्धा के विषय में वह पुनः कहता है, 'प्रजापति ने सत्य को श्रद्धा कहा है।' ऐतरेय ब्राह्मण (2.8.8.2) कहता है—सत्य यजमान है और श्रद्धा पत्नी। सत्य और श्रद्धा से दिव्य लोक प्राप्त होता है— 'श्रद्धा विश्वमिदं जगत् श्रद्धा कामस्य मातरम्।' प्रजापति के समक्ष प्रकट होकर श्रद्धा कहती है—मैं श्रद्धा हूं तुम मेरा विधिवत् भजन करो, तब तुम स्वर्ग को जान सकोगे (3.12.43)। वह देवों के साथ निवास करती है। वह सभी अभिलाषाओं की जननी है। इस ब्राह्मण में श्रद्धा के लिए कहा गया है—

श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः श्रद्धा सत्यमित्युत्तमं मिथुनम्।
श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाल्लोकान् जयतीति॥

जीवन यज्ञ में श्रद्धा पत्नी है, सत्य यजमान है। श्रद्धा और सत्य उत्तम युगल हैं। इससे मनुष्य दिव्य लोकों को प्राप्त करता है। पुनः 'आत्वैव श्रद्धायै होतव्यम्' (3.11) होम यज्ञ की वास्तविकता श्रद्धा में है। कुछ पुराणों में 'श्रद्धादेव' के स्थान पर 'श्राद्धदेव' का उल्लेख है— मनुवैवस्वत : पूर्व श्राद्धदेव प्रजापतिः। वह्निपुराण (धेनु माहात्म्य अध्याय एक) में कहता है—

श्रद्धां नित्यां प्रतिष्ठाय धर्म्माः श्रद्धेव कीर्तिताः।
श्रुतिमात्ररसाः सूक्ष्मा प्रधानपुरुषेश्वराः॥
श्रद्धा धर्म्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धा ज्ञानं हुतं तपः।
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धासर्व्वमिदं जगत्॥

इस पुराण के अनुसार श्रद्धा और धर्म का निकट संबंध निदर्शित है। श्रद्धा बिना धर्मार्जन संभव नहीं। देवता भी श्रद्धाविहीन होकर धर्मलाभ से वंचित रहते हैं। श्रद्धा ही परम धर्म है। वही ज्ञान, तप, मोक्ष, होम और स्वर्ग है। समस्त विश्व श्रद्धाधीन है। अश्रद्धा कभी फलप्रद नहीं होती। श्रद्धा के बिना दान भी मिथ्या है। नारद पुराण की मान्यता है—

धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्था सनातनाः।
श्रद्धावंतं हि सिद्धयंति नान्यथा ब्रह्मनंदन॥

इस प्रकार वह सभी पुरुषार्थों का हेतु है। स्कंदपुराण (17.4.5 ब्रह्मखंड) में कहा गया है—

श्रद्धां हि भजतः पुंसः शिलापि फलदायिनी।
मूर्खोऽपि पूजितो भक्त्या गुरुर्भवति सिद्धिदः।
श्रद्धया पठितो मंत्रस्त्वबद्धोऽपि फलप्रदः।

श्री शिवपुराण (धर्म संहिता) में श्रद्धा धर्म को सूक्ष्म और श्रद्धापूर्ण दान को परम तप कहा है। श्रद्धा ही स्वर्ग व मोक्ष है—

श्रद्धा धर्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धा दानं परं तपः।
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत्॥
एवं श्रद्धामयाः सर्वे शिवधर्माः प्रकीर्तिताः॥(5.21)

मत्स्यपुराण (46.19) में वह वसुदेव की पत्नी है, जिसका पुत्र गवेषण था। अब श्रीमद्भागवत को लें। इसमें कहा गया है 'तच्छ्द्दधाना मुनयोज्ञानवैराग्य मुक्तया।' इस पुराण में उसे दक्ष प्रजापति की कन्या कहा है, जो धर्म की दस पत्नियों में एक है। इसकी माता का नाम प्रसूति था। वह वैवस्वत मनु की पत्नी थी एवं शुभ और काम उसके पुत्र थे। इसी पुराण में श्रद्धा से युक्त भक्तियोग द्वारा निर्मल हृदय से वैराग्य और ध्यान द्वारा वे धीर होते हैं—

यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या सं सृज्यमाने हृदयेऽवधेयः।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा व्रजेऽग्रतस्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम्॥

पुनः श्रद्धावान लोग तप, ब्रह्मचर्य, शम, इंद्रिय दमन, त्याग, सत्य, शुद्धता, यम और नियम से पापों का त्याग करते हैं।

देह वाग्बुद्धिजं धीरा धर्म्मज्ञा श्रद्धयान्विताः
क्षिपंत्यर्ध महदपि वेणु गुणमभिधानत्पः।
व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्॥
दक्षिणा श्रद्धां पुष्णाति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

घनीभूत श्रद्धा ही सत्य का साक्षात्कार कराती है। 'यथार्थ तत्त्व श्रद्धा सम्यकत्व'—सम्यक्त्व का यथार्थ तत्त्व श्रद्धा है। आचार्य महाप्रज्ञ ने कहा है 'ज्ञानं दुग्धं दधि श्रद्धा' ज्ञान दूध है, श्रद्धा दधि है। प्रत्येक संकल्प की पूर्ति श्रद्धा से ही संभव है।

संक्षेप में ब्राह्मणों एवं पुराणों के अनुसार हम श्रद्धा की इस प्रकार विवृति कर सकते हैं—

1. श्रद्धा का संबंध यज्ञ से है और उसके द्वारा फल प्राप्ति होती है।
2. इड़ा श्रद्धा है।
3. देवासुर संग्राम के संदर्भ में उसका महत्त्व है।
4. वह श्री, समृद्धि, स्वर्ग प्रदायिनी है। सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति का हेतु है।
5. श्रद्धा के साथ-साथ अश्रद्धा का भी विवेचन उपलब्ध है।
6. श्रद्धादेव, श्राद्धदेव, श्रद्धैव आदि शब्दों का अपना महत्त्व है।
7. वह वैवस्वत मनु की भार्या है और कहीं-कहीं धर्म की भी।
8. वह मंत्रों को जाग्रत करती है, मंत्रोपासना में उसका महत्त्व है।
9. वैदिक ऋतु का रूपांतरण सत्य में किया गया है।

उपनिषदों में श्रद्धा और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अनेक उपनिषदों में उस पर भिन्न-भिन्न रीति से विचार किया गया है। इनमें वृहदारण्यक, छांदोग्य और तैत्तिरीय मुख्य हैं। अन्य उपनिषदों में भी श्रद्धा की व्याख्या उपलब्ध है। इनमें श्रद्धा संज्ञा, क्रिया एवं विशेषण के रूप में व्यवहृत है। वृहदारण्यक एवं छांदोग्य में कई मंत्र समान हैं। ये इस प्रकार हैं—

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानां
जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति।
(छांदोग्य 5.4.2 वृहदारण्यक 6.2.9)

तद् य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तपः
इत्युपासते तेऽर्चिषमभि संभवंति।
(छांदोग्य 5.10.1 वृहदारण्य 6.2.15)

प्रथम में यज्ञाग्नि में देवगण श्रद्धा की अर्थात् जल की आहुति देते हैं और उससे सोम अर्थात् वाष्प उत्पन्न होता है। सृष्टि में जल की यह प्रथम आहुति है। द्वितीय मंत्र में जो निष्कामकर्मी व्यक्ति अरण्य में श्रद्धा और तप उपासना में लीन रहते हैं, वे मरणोपरांत ज्योतिर्मय रूप की क्रमिक शृंखला से गुजरते हैं (वही, 5.10)। ये दोनों मंत्र 'पंचाग्नि विद्या' से संबद्ध हैं और जैवली ब्राह्मण द्वारा गौतम को उनके प्रश्नों का उत्तर हैं। यहां श्रद्धा का तात्पर्य विद्या से है, किसी विशेष याज्ञिक क्रिया से नहीं है। डॉ. शेषगिरि राव के मत में यह श्रद्धा का प्रतीकार्थ है, जो ब्राह्मण ग्रंथों से भिन्न पड़ता है। वह देव प्रकृति की शक्ति है। श्रद्धा के संदर्भ में पंचाग्नि विद्या के ये मंत्र महत्त्वपूर्ण हैं—इनमें सृष्टि के साथ-साथ मरणोपरांत देवयान और पितृयान मार्गों का निदर्शन किया गया है। श्रद्धा का उपासना, सत्य, तप और ब्रह्मचर्य से संबंध है।

वृहदारण्यक के अन्य मंत्र में कहा गया है कि काम, संकल्प, संदेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, बुद्धि—सब मन के स्वरूप हैं (1.5.3)। यह उपनिषद् श्रद्धा का संबंध दक्षिणा से स्थापित करता है। श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित होती है और श्रद्धा का वास हृदय में है। यम, यज्ञ, दक्षिणा, श्रद्धा इन सबकी प्रतिष्ठा हृदय में है (3.9.21)। इस मंत्र में श्रद्धा और हृदय का अन्योन्याश्रित संबंध निरूपित है। पुनः 5.14.4 में गायत्री की महिमा बताते हुए ऋषि कहते हैं कि वह सत्य में है। इस में 'श्रद्धायाम् तस्मात् एव श्रद्धध्याय तद्वैतत्सत्यंबले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बले' जो दर्शनीय है, वही श्रद्धा का लक्ष्य है। उसकी महत्ता श्रवण से अधिक है। अर्थात् श्रद्धा चक्षु का चक्षु है, मन का मन (छांदोग्य उपनिषद्, 1.1.10, 6.12.2, 7.19.1, 7.20.1, 8.8.5, 11.4.11 आदि में श्रद्धा का उल्लेख है)। इनमें श्रद्धा का संबंध विद्या+प्रणव और उपासना से है। विद्या के बिना कोई भी कार्य वृथा है, श्रद्धा ही मुख्य है। उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन से है (1.1.10)। 6.12.2 में उद्दालक अपने पुत्र में 'श्रद्धात्स्व सौम्येति' कहता है। हे पुत्र! श्रद्धा रख कि अणु रूप में ही यह विशाल वटवृक्ष होता है (इस श्रुति के 7.19.1 एवं 7.26.2 मंत्रों में सनत् कुमार एवं नारद के संवाद में, यह भूमा का पूर्व पक्ष है)। श्रद्धा के लिए कहा गया है कि बिना श्रद्धा के मनन संभव नहीं। मति भी श्रद्धा से प्राप्त होती है, इसीलिए श्रद्धा को जानना चाहिए। पुनः नारद की जिज्ञासा पर सनत्कुमार कहते हैं कि श्रद्धा के लिए निष्ठा आवश्यक है, निष्ठा के बिना

श्रद्धा नहीं होती। वे उत्तरोत्तर निष्ठा से कर्मण्यता, सुख और भूमा की ओर लाए हैं। इन मंत्रों में श्रद्धा, मनन, निष्ठा का पारस्परिक संबंध बताया गया है। इसी प्रकार 8.8.5 में श्रद्धा-अश्रद्धा का विवेचन है। उसमें बताया गया है कि असुर वह है, जो श्रद्धाहीन है, देह को आत्मा समझता है। यहां प्रजापति से इंद्र और विरोचन उपदिष्ट हैं। अन्य मंत्रों में जानुश्रुति को 'श्रद्धादेव' कहा गया है, क्योंकि उसने अपनी दानशीलता से स्वर्ग की प्राप्ति की।

तैत्तिरीय उपनिषद् के 1.11.3 एवं 2.1.4 मंत्रों में 'श्रद्धयादेयम् अश्रद्धया अदेयम्' से दान की नैतिक अवधारणा है। मनु ने भी यही बताया 'पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धा न तयै च' (7.86)। 2.1.4 में विज्ञानमय कोष का शिर श्रद्धा कहा गया है—सत्यं श्रद्धेव शिरः। आत्मा के पंचकोषात्मक रूप का संबंध श्रद्धा से कहा गया है। इस कोष में नैतिकता आभ्यंतरिक है। यही श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग और महः से मनुष्य के जीवन में आती है।

कठोपनिषद् में श्रद्धा तत्त्व अत्यंत जटिल है। इस श्रुति में श्रद्धा शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है—

तं ह कुमारं संतं दक्षिणासु नीयमानासु।
श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत॥ (1.2)
स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो।
प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्॥ (1.1.13)

प्रथम में दक्षिणा में दी जाने वाली (1.2) गायों को देखकर नचिकेता के हृदय में श्रद्धा ने प्रवेश किया। दूसरे में यह यमराज से श्रद्धापूर्वक जिज्ञासा करता है कि वह स्वर्ग प्राप्त करने वाली 'अग्नि' का उपदेश दें। कृष्ण यजुर्वेदीय इस श्रुति में श्रद्धा का संदर्भ दार्शनिक है। कुछ विदेशी विद्वानों ने (यथा अर्ल कार्पेटियर) श्रद्धा का यही अर्थ 'संप्रत्ययः स्पृहा' लिया है पर भारतीय विद्वान इससे सहमत नहीं। द्वितीय मंत्र में श्रद्धानाय का अर्थ शंकराचार्य ने 'श्रद्धावते मह्यम स्वर्गारधनि' अर्थात् 'मैं स्वर्ग का आकांक्षी हूं' लिया है। विद्वानों की धारणा है कि इस उपनिषद् में श्रद्धा का मूलार्थ ब्राह्मण ग्रंथों के सदृश है। इसी उपनिषद् के 6.12 में 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा' की व्याख्या 'श्रद्धायाः अन्यत्र कथं तद् ब्रह्म उपलभ्यते' की है, अर्थात् श्रद्धा से ही ब्रह्म की अनुभूति होती है। इन उपनिषदों में श्रद्धा का प्रयोग ब्रह्म ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में हुआ है। जो अध्यात्म का एक प्रकार से आभ्यंतरीकरण है।

प्रश्नोपनिषद्, मुंडकोपनिषद्, मैत्रायणीय उपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद् में श्रद्धा की जो विवृत्ति मिलती है वह अन्य श्रुतियों से भिन्न है। ये सभी उपनिषद् परवर्ती काल के हैं। मुंडकोपनिषद् में शौनिक अंगिरा से पूछता है—'कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति' (1.1.3)। इसके उत्तर में अंगिरा ऋषि परा और अपरा विद्या का उत्तर बताते हुए कहते हैं—'तपः श्रद्धेयह्युपव संत्यरण्ये शांत विद्वांसो भैक्ष्यचर्याचरंतः' (1.2.11)। अर्थात् जो शांत चित्त से श्रद्धापूर्वक अरण्य में भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते हैं, वे सूर्य द्वार तक पहुंच जाते हैं। यहां श्रद्धा का अर्थ आत्मिक साधना है। (अरण्य का अर्थ मस्तिष्क के सहस्त्रार से किया गया है, जंगल से नहीं)। इसमें श्रद्धा से तात्पर्य यज्ञ कर्म न होकर परा विद्या से है, उच्चतम ज्ञानबोध से। ऋषि ने श्रद्धा तत्त्व को मोक्षप्राप्ति का साधन माना है। स्वर्गजन्य सुखों से श्रद्धा का संबंध है। पुनः मुंडकोपनिषद् कहता है—'तस्माच्च देवा बहुधासंप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ ब्रीहियवोतपश्च, श्रद्धा, सत्यं, ब्रह्मचर्य विधिश्च' (2.1.7)। अर्थात् देव, साध्य और मनुष्य विराट पुरुष से उत्पन्न हुए हैं। पुराण, अपान, ब्रीहि, यवः, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य—सब उसकी विधि हैं। इस मंत्र में श्रद्धा का महत्त्व सात्त्विक सत्तामूलक और पारलौकिक है। वह परम पुरुष का अनुग्रह है। पुनः एक मंत्र में कहा गया है—'क्रियावंतः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयंतः' (3.2.10)। इसमें यह स्पष्ट कथन है कि ज्ञान श्रद्धावान को ही होता है, जिसे ब्रह्मनिष्ठा हो। इस प्रकार मुंडकोपनिषद् में श्रद्धा की अनिवार्यता ब्रह्मज्ञान, पराविद्या आदि के संदर्भ में विवेचित है।

प्रश्नोपनिषद् में कई मंत्रों में श्रद्धा का वर्णन है। यथा, 1.2, 1.10.2.3, 5.3, 6.4 आदि। यह उल्लेख इस प्रकार है—

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं (1.2)

अर्थोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानम् (1.10)

प्रविभज्यैतद् बाणवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्धधाना वभूवुः (2.3)

तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति (5.3)

स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीद्रियं मनः (6.4)

पिप्पलाद ऋषि ने इन मंत्रों में तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा को साथ रखा है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि श्रद्धा स्वतंत्र है, वह आरोपित नहीं हो सकती। ब्रह्म ज्ञान के लिए तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा का होना अनिवार्य है। द्वितीय मंत्र में 'प्रजापति ही ब्रह्म है'—यह बोध श्रद्धा ही कराती है। तृतीय में भार्गव के प्रश्न का उत्तर देते हुए पिप्पलाद प्राण की सर्वोच्चता प्रतिपादित करते हैं। यह तत्त्व श्रद्धा द्वारा ही अनुभूत होता है, अश्रद्धा से नहीं। इसमें श्रद्धा का महत्त्व निर्विवाद और अनिवार्य रखा गया है। चतुर्थ मंत्र में सत्यकाम को उत्तर देते हुए पिप्पलाद प्रणव को ब्रह्म बताकर उसकी व्याख्या करते हैं। संयम से ही व्यक्ति तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा प्राप्त करता है। इसमें श्रद्धा का प्रणव के साथ विवेचन है। श्रद्धाविहीन व्यक्ति अपनी जड़ें नष्ट करता है। अंतिम प्रश्न में सुकेश के प्रश्न का उत्तर है, जिसमें शंकराचार्य के अनुसार श्रद्धा ही सभी शुभकर्मों के मूल में है। प्रणव के उपरांत ही ऋषि ने श्रद्धा को मान्यता दी है। श्रद्धा सोलह कलाओं में एक है—वह स्रष्टा और सृष्टि के मूल में है, वह ब्रह्म में सन्निविष्ट है। मैत्रेयी ब्रह्मयज्ञ से प्रारंभ होता है। इस पर सांख्यदर्शन का प्रचुर प्रभाव है। इसके अनुसार श्रद्धा-अश्रद्धा प्रकृति के लक्षण हैं, पुरुष के नहीं। पूर्ववर्ती उपनिषदों के इस विवेचन के उपरांत श्रद्धा के संबंध में ये निष्कर्ष निकलते हैं—

1. वह ज्ञान और ब्रह्म की प्राप्ति के लिए 'संप्रत्ययः स्पृहा' है।
2. श्रद्धा तप इति उपासते अर्थात् वह तप से भी पूर्व है।
3. वह रागात्मक और प्रज्ञात्मक है।
4. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह व्यक्तिनिष्ठ है।
5. उसकी मूल प्रवृत्ति धार्मिकत्व है। साथ ही युगांतपरक और वह अंतःनिरीक्षणार्थ एक नैतिक अवधारणा है एवं निर्वैयक्तिक, रहस्यात्मक और आदर्शपरक है।
6. वैदिक और ब्राह्मण ग्रंथों के विवेचन से यह भिन्न है।

परवर्ती उपनिषदों (कठ, प्रश्न और मैत्रेयी) में श्रद्धा का संबंध सचराचर की सृष्टि प्रक्रिया से है। उनमें प्राण के पश्चात् ही उसे स्वीकारा गया है। श्रद्धा परा विद्या के लिए आवश्यक है। ब्रह्म की प्राप्ति के निमित्त उसकी अनिवार्यता असंदिग्ध है। वह सोलह कलाओं में दूसरे स्थान पर है। संसार का विकास सत्य की ओर है और यही श्रद्धा है—सृष्टि की आधारभूत कला।

उपनिषदों के अनंतर रामायण और महाभारत में भी श्रद्धा के उल्लेख उपलब्ध हैं। रामायण में 'चिच्छेद जीविते श्रद्धां धर्मे यशसि चात्मनः' (2.38.2) कहकर श्रद्धा की प्रशंसा है। उसे 'श्रद्धा वैवस्वती' कहा गया है।

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी।
जहाति पापं श्रद्धावान्सर्पो जीर्णमिवत्वचम्॥

अश्रद्धा पाप है, श्रद्धा पाप से मुक्ति दिलाती है (200.15)। श्रद्धावान उसी प्रकार पापमुक्त होता है जैसे सर्प केंचुल से। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर महाभारत में श्रद्धा का वर्णन है। उसका संबंध धर्म से है—वह उसकी पत्नी है। ❖

क्रमशः अगले अंक में जारी

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

व्यापार को नैतिकता की आवश्यकता है, दोनों के मेल से ही संतुलित समाज का निर्माण होता है। अगर व्यापार में हर एक अनैतिक हो जाए तो कर्मचारी अपने मालिक की चोरी करते रहें, मालिक जब चाहें कर्मचारियों को नौकरी से जुदा कर दें, कर्जदार कभी ऋण न चुकाएं, बैंक जमाकर्ताओं को अपनी रकम मांगने पर न लौटाएं—तो पूरा समाज चरमराकर टूट जाएगा। कई नैतिक बातें इतनी आवश्यक मानी गईं कि वे व्यापार का कानूनी पक्ष बन गईं। सरकार ने आवश्यक कानून पारित कर व्यापारियों और संस्थाओं को नैतिक बने रहने हेतु बाध्य किया। एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, 1969, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948, औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947—कुछ उदाहरण हैं, जो व्यापार जगत में अन्यथा फैल सकने वाली अनैतिकता को अपने कानूनी दम पर रोके हुए हैं।

❑ नैतिकता : अर्थपूर्ण जीवन के लिए

❑ चंद्रशेखर व्यास

नीतिशास्त्र का एक मुख्य प्रश्न है—हम नैतिक क्यों हों? क्या नैतिकता के बिना काम नहीं चल सकता? परंपरा, कानून और व्यावहारिक समझदारी के अलावा नैतिकता की आवश्यकता क्या है?

नैतिकता का सवाल जीवन के हर पक्ष को प्रभावित करता है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति अपने व्यवहार और कर्म में नैतिक रहना चाहता है। व्यापार और अन्यान्य आर्थिक पक्षों से जुड़े मुद्दों पर अकसर यह सवाल उठता रहता है कि इनमें नैतिक रह पाना सामान्यतः कठिन है। प्रस्तुत आलेख में लेखक ने इसी मुद्दे के अलग-अलग पक्षों को नैतिकता की कसौटी से जांचा-परखा है। इस दृष्टि से यह आलेख एक वैचारिक उत्तेजना और ऊर्जा देने वाला माना जा सकता है और इस पर कई तरह से विचार हो सकता है। इन और ऐसे मुद्दों पर हमारा विचार चलता रहे, यह हम चाहते हैं।

'महावीर का अर्थशास्त्र' को आधार बनाकर जैन भारती के फरवरी से मई, 2004 के अंकों में जो आलेख प्रकाशित हुए यह एक स्वतंत्र आलेख उसी कड़ी में—

हमें नैतिक इसलिए होना चाहिए कि हम अपने जीवन को, जिसमें सामाजिकता का बहुत बड़ा भाग है—अर्थपूर्ण बनाना चाहते हैं। हम दूसरों के साथ सुख, शांति का जीवन बसर करना चाहते हैं। दूसरों की परिपूर्णता के बगैर हम आधे-अधूरे हैं। हम अतिरिक्त स्वार्थ के वशीभूत हो कर खुद के हक में इतनी समृद्धि ला सकते हैं कि अन्य लोग गरीब, असहाय बन सकते हैं। अगर हम नैतिक न हों, नहीं बनना या नहीं रहना चाहें तो हम हॉब्स द्वारा वर्णित 'प्राकृतिक अवस्था' में पहुंच जाएंगे, जिसमें समाज तहस-नहस हो जाएगा। नैतिक जीवनमूल्यों के आधार पर अपने विवेक द्वारा जांचा-परखा जीवन होता है, जिसे जीने का मजा बिना जांचे-परखे साधारण जीवन-यापन से कहीं अधिक होता है। अतः नैतिक जीवन बाहरी सामाजिकता के दृष्टिकोण तथा आंतरिक निजी जीवन के दृष्टिकोण—दोनों ओर से आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।

जिसने भी नैतिकता का दामन थामा है, उसे अपने क्षुद्र निजी स्वार्थों के कुछ अंश का परित्याग करना पड़ा है। अगर गैर-नैतिक दृष्टिकोण से स्वार्थों के परित्याग की परिस्थिति पर विचार किया जाए तो ऐसा करने वाला व्यक्ति उतनी अच्छी जिंदगी नहीं जी रहा, जितनी वह स्वार्थों के परित्याग से पहले जी रहा था। परंतु नैतिक दृष्टिकोण से यह सही नहीं है, इसके विपरीत वह अब अधिक गुणवत्ता वाला

जीवन जी रहा है। क्योंकि जीवन वस्तुओं और संपत्ति के प्रसार में ही समाप्त नहीं होता, उसकी गहराई भी उसका आवश्यक आयाम है। ऊपर का जवाब हमारे वैयक्तिक तौर पर नैतिक होने के बारे में था।

अब प्रश्न यह है कि कोई व्यापारिक संस्थान नैतिक क्यों हो? कोई भी प्रबंधक अपने व्यवहार अथवा आचरण में नैतिक क्यों हो? क्या इसलिए कि नैतिक सिद्धांतों का पालन करते रहने से व्यापारिक संस्थान को बाजार का ज्यादा हिस्सा या लाभप्रदता में बढ़ोतरी होगी? क्या यह आवश्यक अथवा वांछनीय है कि नैतिकता को बाजार से मिलने वाले फायदों के रूप में भुना लिया जाए? कोई शुभ बात या अच्छी भावना क्या अपना इनाम खुद ही नहीं है?

पारंपरिक दृष्टि के अनुसार व्यापार की नैतिकता बाजार में व्यापार के सफल-असफल, प्रभावी-अप्रभावी व्यवहार से जुड़ी है। सफल व्यवहार नैतिक है। सफलता पाने के लिए व्यापार को अपनी लागत में कमी और कुशलता में वृद्धि लानी पड़ती है ताकि लाभ कमाया जा सके और बाजार पर छाया जा सके। इसका अर्थ है—उपभोक्ता को सहन होने वाली कीमत पर बाजार से वस्तु प्राप्त हो रही है—यही व्यापार की नैतिकता है। ओलिवर शेल्डन, प्रबंध-शास्त्रज्ञ ने अपनी पुस्तक 'फिलोसॉफी ऑफ मैनेजमेंट' में इस मत का प्रतिपादन करते हुए प्रबंधकों के लिए विज्ञानसम्मत पंथ, आचार संहिता का प्रस्ताव रखा जिसमें कार्यकुशलता बढ़ाने पर अत्यधिक बल दिया गया है। कम लागत और अधिक कार्यकुशलता—ये व्यापार के संपूर्ण मूल्य हैं। इनके अतिरिक्त किसी नैतिकता के प्रति जागरूकता या सामाजिक दायित्व व्यापार के बाहर की बातें हैं।[1] मिल्टन फ्रीडमेन के अनुसार भी व्यापार का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व अपने अंशधारकों हेतु अधिकतम लाभ कमाना है। इससे अलग नैतिकता अथवा सामाजिक दायित्व बकवास है।[2]

नया दृष्टिकोण :

जरूरी नहीं है कि अच्छा व्यापार अपने-आप में नैतिक हो। नैतिकता का आयाम सोचा-समझा, मार्गदर्शक आयाम है जो व्यापार के आर्थिक मूल्य में नए आदर्शमूलक मूल्य का सृजन करता है। नैतिक सिद्धांतों से भरपूर व्यापार अनिवार्यतः सफल व्यापार नहीं हो सकता। व्यापार की सफलता के लिए उसके तकनीकी अंदरूनी पहलू नैतिक पहलुओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। तो क्या नैतिकता को टाला जा सकता है? इसका उत्तर व्यापारिक संस्थान के अस्तित्व और उद्देश्य के बारे में सही सोच-विचार से प्राप्त हो सकता है। व्यापारिक संस्थान लाभ कमाने की मशीन से कुछ अधिक है। यह समाज का विकसित होता हुआ वह अंग है जिसमें उसके कर्मचारी अपने जीवन का अधिकांश भाग गुजारते हैं। यहां का प्रबंधक खुद अपने-आप को लाभ की मशीन का 'मैकेनिक' न मानकर, काम करने वाले कर्मचारियों के जीवन-व्यापार का प्रबंधक क्यों न माने? यही दृष्टिकोण व्यापारिक संस्थान को नैतिकता से जोड़ता है। कर्मचारियों के जीवन-व्यापार के प्रबंधन से तात्पर्य है—कार्यस्थल पर उनके समुचित विकास का संस्थान के हित में नियोजन। इसी तरह ग्राहकों के हितों के बारे में सोचते समय दीर्घकालिक दृष्टिकोण से सोचना, उन्हें अपने अस्तित्व का उद्देश्य मानते हुए लाभ को उसमें सहायक समझना—एक नया उपयुक्त दृष्टिकोण हो सकता है।

व्यापार के कई रूप हैं। एक अर्थ में यह आर्थिक है, दूसरे अर्थ में सामाजिक, तीसरे अर्थ में यह मानवीय भी है। वस्तुतः यह तीनों का मेल है और इसी अर्थ में व्यापार का प्रबंधन मूल्यों का प्रबंधन है। यही इसका नैतिक आयाम है। अब इन प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट उभरने लगता है। प्रबंधक क्यों प्रदूषण के प्रति दायित्व का बोध करे? कर्मचारियों को वेतन दे चुकने के बाद उनके कार्यस्थल पर अन्यान्य सुविधाओं में स्वार्थी आवश्यकता से अधिक खर्च क्यों करे? किसी कार्यरत कर्मचारी की मृत्यु के बाद सहानुभूति के आधार पर उसके परिवार के किसी अन्य सदस्य को आजीविका क्यों दे? घूस देने से परहेज क्यों करे, जब कि ऐसा करने से संस्थान को अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है?

केवल लाभ ही यदि व्यापार की इतिश्री, आदि और अंत हो, तो प्रबंधक का कार्य बड़ा नीरस और चुनौती-विहीन होगा। प्रबंधक वर्ग की प्रतिभा, क्षमता और शक्ति का उपयोग केवल उत्कृष्ट उत्पाद के बनाने में अथवा उसके विपणन तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, परंतु संस्थान को कर्मचारियों हेतु उत्कृष्ट कार्यसक्षम बनाने में भी होना चाहिए। उत्पाद में गुणवत्ता यथेष्ट है, तो विज्ञापन पर अनापशनाप खर्च करने की आवश्यकता नहीं रहती। अगर कर्मचारियों को अच्छा व्यवहार और कार्य हेतु सुविधाजनक वातावरण मिलता है, तो संस्थान में अच्छे और दक्ष कर्मचारी हमेशा आना चाहेंगे और समर्पित होकर काम करना चाहेंगे। अगर संस्थान बैंक अथवा निवेश कंपनी है

तो ग्राहक और निवेशक इसकी कार्यकुशलता की ख्याति सुनकर इनमें अपनी बचत अथवा निवेश रखकर संतोष की सांस लेंगे।

ऊपर की चर्चा का निष्कर्ष यह है कि न केवल व्यापार के फलने के लिए नैतिकता आवश्यक है, बल्कि यह व्यापार का चरम लक्ष्य है।

बैंकिंग और नैतिकता :

वैसे तो व्यापार का चरम लक्ष्य नैतिकता है, किंतु बैंकिंग और नैतिकता कुछ विशेष रूप से एक-दूसरे में गुंथे हुए हैं।

एक ओर अरस्तू तो दूसरी ओर कौटिल्य—ये दोनों परंपराएं वित्तीय क्षेत्र में नैतिकता पर जोर देती हैं। अठारहवीं सदी में एडम स्मिथ; बीसवीं सदी में केंज तथा हाल ही में अमर्त्यसेन इत्यादि अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र को बहुत नजदीक लाकर खड़ा कर दिया है। केंज के अनुसार मानव का वैयक्तिक स्वार्थ से प्रेरित कामकाज या व्यापार राज्य अथवा सरकार के समसामयिक हस्तक्षेप से निबद्ध रहकर आदर्श समाज की स्थापना और निर्माण कर सकता है। राज्य के हस्तक्षेप का अर्थ है—अर्थव्यवस्था में मुद्रा और आर्थिक जीवन के अन्य पहलुओं को ठीक तरह से चलाने के लिए एक नियामक ढांचा कुशलता से कार्य करता रहे। समाज के चरम कल्याण के लिए यह हस्तक्षेप आवश्यक है और यह हस्तक्षेप नियामक या केंद्रीय बैंक मुद्रा-प्रसार पर नियंत्रण तथा अन्य उपायों से करता रहता है। जिस तरह देश की आर्थिक नीति के सरोकार नैतिक होते हैं, केंद्रीय बैंक के कार्यकलापों का परम उद्देश्य भी नैतिक है। देश की आर्थिक नीति के चार मुख्य उद्देश्यों—मूल्यस्थिरता, संतोषप्रद भुगतान-संतुलन, उचित विकास-दर और उच्चस्तरीय नियोजन में प्राथमिकता का चयन और उनकी प्राप्ति के लिए सही वित्तीय-नीति का उपयोग—राज्य के समाज के प्रति नैतिक सरोकार हैं। इसी तरह केंद्रीय बैंक और उसके द्वारा निर्देशित व्यावसायिक बैंक देश के आर्थिक विकास में बुनियादी भूमिका अदा करते हैं, जो देश की जनता के कल्याण से जुड़ी होने की वजह से नैतिक भूमिका है।

हमारे देश की बनिस्बत पाश्चात्य देशों में बढ़ते हुए प्रतिभूतिकरण (Securitisation) के कारण मुद्राप्रसार को नया आयाम मिला है। केवल व्यावसायिक बैंक ही नहीं, निवेश बैंक तथा अन्य गैरबैंकिंग वित्तीय संस्थाएं भी प्रतिभूतिकरण के माध्यम से मुद्रा-प्रसार कर रही हैं और अपने तुलन-पत्रों में न दर्शाते हुए भी अनेक देयताओं की वचनबद्धताएं समेटे हुए हैं। हमारे देश में भी इस तरह के व्यापार तथा 'स्वैप', 'फ्यूचर्स' तथा 'डेरिवेटिव' के व्यापार में वृद्धि होने पर नियामक बैंक के नियमन के कार्य में नई चुनौती प्रस्तुत होने वाली है। नियामक बैंक द्वारा व्यावसायिक बैंकों एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं का पर्यवेक्षण प्रत्यक्ष रूप से इन संस्थाओं के भले के लिए है। परंतु परोक्ष रूप से यह पूरे समाज के लिए नैतिक महत्त्व का कार्य है। मान लीजिए कि नियमन में ढिलाई के कारण किसी बैंक से गलती हो जाती है, जिसके फलस्वरूप कई करोड़ रुपयों की राशि को बट्टेखाते में डालना पड़ जाता है, तो इस असाधारण नुकसान की मार साधारण नागरिक पर पड़ती है, जिसे पहले की अपेक्षा अधिक कर वहन करना पड़ेगा।

आज वित्तीय क्षेत्र के सार्वभौमीकरण के दौर में केंद्रीय बैंकों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बैंकिंग जगत के शीर्षस्थ पर्यवेक्षक प्राधिकरण की आवश्यकता महसूस होने लगी है। यह तो जानते ही हैं कि बैंकिंग पर्यवेक्षण पर बेसले समिति के सुझावों से बैंकिंग क्षेत्र में, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सर्वमान्य मानकीकरण के डंडे की मदद से मजबूती की ओर बढ़ने का निश्चय जागा है। 'जी-7' के नाम से विख्यात औद्योगिक देशों के बीच सूचना के आदान-प्रदान और इन देशों की पर्यवेक्षक क्षमता पर निगरानी हेतु बेसले समिति ने कुछ उपाय प्रस्तावित किए हैं, जो नैतिकता-पोषक हैं। पर्यवेक्षण द्वारा अंतरराष्ट्रीय बैंकिंग जगत को सबल बनाने के लिए कुछ पूर्व यूरोपीय देशों (जहां कुछ संदिग्ध बैंकिंग व्यापार का होते रहना अनुमानित है) तथा पार-तटीय (off shore) वित्तीय केंद्रों के व्यापार के पर्यवेक्षण पर जोर दिया जा रहा है।

उच्च वित्तीय क्षेत्र में नैतिकता की कमी कहर बरपा सकती है। इस क्षेत्र में मुख्य फायदा वास्तविक उत्पादकता के कारण न होकर अटकलबाजी या सट्टेबाजी पर आधारित निर्णयों से मिलता है। इस क्षेत्र के व्यापार में अधिक लाभ कमाना मुख्य उद्देश्य रहता है, न कि साधारण व्यापार की तरह स्थाई और विश्वसनीय संबंध बनाना। खतरे वाली बात यह भी है कि ये बड़े-बड़े लेन-देन आम लोगों की नजरों की ओट में होते हैं। इनमें जोखिम उठाने का लाभ तो एक खास संस्थान या वर्ग को मिलता है, लेकिन नुकसान की स्थिति में खमियाजा पूरे देश को भोगना पड़ सकता है।

हर्षद मेहता कांड में कुछ लोगों के अनुचित कर्म का नुकसान पूरी बैंकिंग व्यवस्था को अलग-अलग तरह से भोगना पड़ा।

निवेश बैंकिंग में करोड़ों रुपयों के वारे-न्यारे होते रहते हैं। इसी कारण यहां के कार्यकर्ताओं की नैतिक धुरियां हिल-डुल सकती हैं। अगर उनमें नैतिकता की भावना अल्प विकसित है तो अनुचित कर्म का आकर्षण यहां उपस्थित है।

अधिकांश वित्तीय लेन-देन मालिक और अभिकर्ता के बीच प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संविदाओं तथा उनसे जुड़ी नैतिक आकांक्षाओं के सहारे चलते रहते हैं। स्वाभाविक है कि व्यापारिक अभिकर्ताओं को मालिक के व्यापार की गूढ़ एवं गोपनीय बातों का पता होता है और इस कारण वित्तीय बाजार में लेन-देन करते समय कई मौके ऐसे आते रहते हैं जब मामूली असावधानी से वे असाधारण नैतिक संकट में पड़ सकते हैं। ऐसे समय न्यासीय उत्तरदायित्व (Fiduciary Responsibility), अभिकर्ता का निजी स्वार्थ तथा संस्थान के अन्यान्य स्टेकधारकों के प्रति उत्तरदायित्व में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जिससे उबरने के लिए स्तरीय आचरण की आवश्यकता है।

एक जमाना था जब बैंकिंग की रीढ़ की हड्डी जैसी अवधारणा—ब्याज पर ऋण प्रदान करना—को घृणित कर्म माना जाता था। हम पहले भी जिक्र कर चुके हैं कि यहूदी और इस्लाम धर्म में ब्याज पर कर्ज देने की मनाही है। ईसाई धर्म में यीशु द्वारा मुद्रा का व्यवसाय करने वालों को गिरजाघर से निष्कासित किए जाने का प्रकरण प्रासंगिक है। बाद के धार्मिक सुधारों में बैंकिंग को समुचित न्याय मिला। तब तक बैंकिंग एक सामाजिक संस्था के रूप में उभर चुकी थी। अब उसे बिना श्रम किए रकम से रकम कमाते जाने जैसा चालक व्यवसाय नहीं समझा गया, वरन् इसके विपरीत एक आवश्यक सार्वजनिक उपयोगिता, विश्वास पर टिका उद्योग और उद्योगों के लिए आवश्यक सेवा-उद्योग समझा जाने लगा।

बैंकिंग में नैतिकता का एक रूप यह भी है कि इस व्यवसाय में विभिन्न स्तरों पर लिए गए निर्णय कई बार नैतिक दुविधा या असमंजस की स्थिति पैदा करने में सक्षम हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

♦ बैंक द्वारा सही व्यावसायिक निर्णय लेने के बाद किसी उद्यमी को ऋण प्रदान करने पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि निर्णय सही है, अतः ऋण अपेक्षित ढंग से वसूल हो जाएगा। कई बार हालात इतने प्रतिकूल हो जाते हैं कि ऋण देने वाला बैंक तथा ऋणकर्ता उद्यमी—दोनों सोचते हैं कि ऋण दिए और लिए बगैर वे अच्छी अवस्था में थे। ऋण देना, उपर्युक्त संभावना रहते हुए भी, अविरल जारी रखना है।

♦ अपने जमाकर्ताओं और अंशधारकों के हितों की रक्षा करने हेतु क्या बैंक किसी औद्योगिक इकाई को दिए हुए ऋण को इस गैरजिम्मेदाराना ढंग से वापस कराने का प्रयास करे (जैसे दिवालिया घोषित करा के) जिससे उस इकाई के कई कर्मचारियों की नौकरी समाप्त हो जाए?

♦ क्या बैंक लंबी अवधि हेतु औद्योगिक ऋण तो दे और वर्तमान में उपयोग में आने वाली उपभोक्ता वस्तुओं की खरीद के लिए ऋण देने में कमी कर दे?

♦ जब बैंक विभिन्न तरीकों से आम जनता को यह संदेश देता है कि उसके पास ऋण देने योग्य धन की प्रचुरता है, तो क्या इस तरह के संदेश से वह पहले से चले आ रहे ऋणकर्ताओं को आराम से पैसा वापस करने की अप्रत्यक्ष इजाजत नहीं दे रहा?

♦ हमारे देश में एक बार केंद्रीय सरकार ने 10,000 रुपये तक के कृषि ऋणों को माफ कर दिया था। क्या बैंकों के कृषि क्षेत्र के ऋणकर्ता, जिन्होंने समय पर ऋण चुका दिया था, अपने नैतिक दायित्व को निभा चुकने के कारण हुई मूर्खता के लिए खुद को कोसें? क्या भावी ऋणकर्ता भावी ऋण माफी की उम्मीद में जानबूझकर चूक करते रहें?

♦ कभी-कभी बैंक प्रबंधन में विशेषकर ऋण (Venture Capital) देने का निर्णय किसी प्रबंधक ने समझ-बूझ कर लिया है। परंतु बैंकिंग समाज में मान्य पूर्व-धारणाएं उसे लीक पर चलते रहने को मजबूर करती हैं—जैसे नए काम में जोखिम जाने-पहचाने काम की अपेक्षा ज्यादा है और वह अपना निर्णय बदलता है। कभी वह पूर्व-धारणा के साथ इस बात की भी दुःसह कल्पना करता है कि वह साहसिक पूंजी के ऋण द्वारा अपने अन्यथा अच्छे भविष्य को धुंधला कर रहा है। एक ओर व्यापार के वस्तुनिष्ठ मूल्य उद्यमी की सामयिक मदद हैं तो दूसरी ओर अपने अच्छे भविष्य हेतु अतिरिक्त सावधानी—इन दो पाटों के बीच वह पिसता है—कौनसा पर्याय अधिक नैतिक है, यह विचारणीय विषय है।

♦ हमारे देश की संस्कृति में अपरिग्रह की भावना अर्थात् जरूरत से ज्यादा वस्तुओं का संग्रहण न करने के विचार को नैतिक गुण माना है। किंतु बैंक सेवा-उत्पादों के विपणन में हमें लोगों में उपभोक्ता वस्तुओं की धड़ल्ले से खरीदने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना है। यहां विपणनकर्ता के निजी जीवन के मूल्य तथा संस्थान के उद्देश्यों के बीच थोड़ी टकराहट होने से नैतिक दुविधा की स्थिति पैदा हो जाती है, जिसका समाधान यह है कि विपणनकर्ता की भूमिका और निजी जीवन के मूल्य अलग-अलग हैं। व्यावसायिक कर्तव्य की पुकार कर्तव्यस्थल पर हावी है, अतः बृहत्तर हित में छोटे (निजी हित) का विलय हो जाना चाहिए?

♦ हमारे देश में क्रेडिट कार्ड का विपणन स्कूल और महाविद्यालयों के छात्र-छात्राओं में अभी तक नहीं हुआ है। अमेरिका में क्रेडिट कार्ड उनके द्वारा भी उपयोग में लाए जाते हैं। छात्रों द्वारा उनके क्रेडिट कार्ड से इस्तेमाल की गई राशि के समय पर न चुकाए जाने की वजह से, उन पर सख्ती की गई। कई कार्डधारक छात्र मानसिक तनाव से ग्रस्त होकर विद्यार्जन के रास्ते से भटक गए। क्या विपणन समाज के लिए घातक भी हो सकता है?

♦ आजकल लगभग सभी बैंकों को वर्गीकरण और प्रावधानीकरण के मानकों के अनुरूप दिए हुए ऋण का कुछ भाग बट्टेखाते में डालना पड़ता है। कई बार अत्यंत सावधानी बरतने के उद्देश्य से कोई बैंक किसी खाते को अपनी बहियों में बट्टेखाते में डाल चुका है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कर्जदार से वसूलने की इच्छा ही उसने त्याग दी। ऐसे में यदि कोई बैंक-कर्मचारी उक्त कर्जदार को यह कह कर गुमराह करे कि अब तुम्हें कर्ज चुकाने की जरूरत नहीं है—बहुत अनुचित कर्म तथा संस्था के प्रति गद्दारी है।

व्यापार में नैतिकता—कुछ भ्रांत मान्यताएं

भ्रांत मान्यताओं से तात्पर्य, ऐसे विचार हैं, जो लोगों में साधारणतया माने जाते रहे हैं, पर व्यवस्थित तौर पर विचार-विमर्श करने पर वे सही नहीं लगते।

(1) नैतिकता निजी और व्यक्तिगत मामला है, सार्वजनिक चर्चा का विषय कदापि नहीं।

मिल्टन फ्रीडमैन के अनुसार जो प्रबंधक लाभ अर्जित करने के परे नैतिकता के सरोकारों की बात करता है, वह अपने रास्ते से भटक रहा है, क्योंकि उसे न तो नैतिक आचरण का प्रशिक्षण मिला है और न ही उसे ऐसा करना चाहिए। पर जैसा कि हम देख चुके हैं, यह दृष्टिकोण सही नहीं है। व्यापार के निश्चित नैतिक आयाम हैं।

(2) व्यापार और नैतिकता आपस में तेल और पानी की तरह हैं—दोनों का घोल नहीं बनता।

व्यापार को नैतिकता की आवश्यकता है, दोनों के मेल से ही संतुलित समाज का निर्माण होता है। अगर व्यापार में हर एक अनैतिक हो जाए तो कर्मचारी अपने मालिक की चोरी करते रहें, मालिक जब चाहें कर्मचारियों को नौकरी से जुदा कर दें, कर्जदार कभी ऋण न चुकाएं, बैंक जमाकर्ताओं को अपनी रकम मांगने पर न लौटाएं—तो पूरा समाज चरमराकर टूट जाएगा। कई नैतिक बातें इतनी आवश्यक मानी गईं कि वे व्यापार का कानूनी पक्ष बन गईं। सरकार ने आवश्यक कानून पारित कर व्यापारियों और संस्थाओं को नैतिक बने रहने हेतु बाध्य किया। एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, 1969, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948, औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947—कुछ उदाहरण हैं, जो व्यापार जगत में अन्यथा फैल सकने वाली अनैतिकता को अपने कानूनी दम पर रोके हुए हैं।

(3) व्यापार में नैतिकता सापेक्ष है।

व्यापार में नैतिकता कुछ इस तरह से रहती है कि किसी भी कर्म या व्यापारिक कार्य को एकदम उचित या एकदम अनुचित नहीं कह सकते। यद्यपि यह कहना सही है कि नैतिकता के कोई सार्वभौमिक और निरपेक्ष सिद्धांत नहीं हैं जिन्हें पूरी मानवजाति मानती हो, किंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हम किसी निर्णय को नैतिक अथवा अनैतिक नहीं मान सकते। दैनिक जीवन में हम नैतिक दृष्टि से उचित अथवा अनुचित कर्मों को पहचानते रहते हैं।

(4) अच्छा व्यापार स्वतः नैतिक होता है।

नैतिकता व्यापार की अलग से कोई मदद नहीं करती। जब व्यापार मुसीबत में होता है या उसके उत्पादन या विपणन विभाग में कोई तकनीकी मुसीबत आ खड़ी होती है तो नैतिकता रास्ता नहीं दिखाती। इसलिए अगर कोई संस्थान लागत कम रखते हुए प्रतिस्पर्धा में बचा हुआ है तो उसे अलग से नैतिक बनने की खर्चीली विलासिता की आवश्यकता नहीं है।

इसके विपरीत यह तथ्य सही है कि बाजार की सफलता और नैतिकता में कोई निश्चित संबंध नहीं बन पाता। लिसा न्यूटन का यह तर्क सही है कि उत्कर्ष का नाता

ग्राहक सेवा, लोगों और कर्मचारियों से अच्छे संबंध बनाने और कंपनी की आंतरिक, बाह्य ईमानदारी से है, केवल लाभ की अधिकता से नहीं। कार्य निष्पादन का उत्कर्ष नैतिक रहे बगैर हासिल नहीं हो सकता।

व्यापार में नैतिक तर्क की जरूरत ही क्यों?

(1) जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कानून हमें व्यापार की स्थिति में नैतिक बनाए रखता है। पर अनेक बार ऐसा भी होता है कि नई परिस्थिति उत्पन्न हुई है और कानून उसके बारे में अभी तक मौन है, तो हमें अपने कर्म का औचित्य सिद्ध करने के लिए नैतिक तर्क की आवश्यकता है।

(2) स्वतंत्र बाजार या नियंत्रित बाजार के नियम या कानूनी व्यवस्था कई बार व्यापार में उचित निर्णय का मार्गदर्शन नहीं कर पाती। इनके अभाव में अंतर्दृष्टि अथवा न्याय, ईमानदारी और लोगों के मानवाधिकार आदि मूल्यों के मद्देनजर निर्णय लेना पड़ता है। इसे नैतिक तर्क द्वारा उचित निर्णय सिद्ध किया जा सकता है।

(3) व्यापारिक संस्थान के विभिन्न घटकों के हितों में आपस में प्रतिस्पर्धा रहने के कारण निर्णयकर्ता प्रबंधक को नैतिक तर्क द्वारा अपना पक्ष समझाना पड़ सकता है। तंबाकू उगाने वाले किसानों और उक्त व्यापारिक संस्थान के अंशधारकों में धूम्रपान की प्रक्रिया हानिकारक नहीं है। किंतु चिकित्सा तथा स्वास्थ्य के सरकारी प्राधिकरण में वह हानिकारक मानी जाती है। प्रबंधक को ऐसी परिस्थिति में अपने निर्णयों के लिए कभी नैतिक तर्क की आवश्यकता पड़ सकती है।

(4) जब विभिन्न घटक विरोधी नैतिक तर्क प्रस्तुत कर रहे हों तो प्रबंधक किसका पक्ष ले और क्यों? इसे दोनों के संदर्भ में अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए नैतिक तर्क की आवश्यकता है।

कैसे निर्णयों के नैतिक आयाम होते हैं?

नैतिक निर्णय और गैर-नैतिक निर्णय में आपस में क्या भेद है? सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि नैतिक निर्णय ऐसा निर्णय है जिसका मानव के कल्याण तथा उसकी परिपूर्णता पर सार्थक प्रभाव पड़ता है। नैतिक निर्णय का सकारात्मक अथवा नकारात्मक ढंग से किसी पर असर पड़ता है। कुछ निर्णय समस्त प्रभावित लोगों के कल्याण में बढ़ोतरी करते हैं। बहुत-से निर्णय संस्थान के भीतर और बाहर के कुछ लोगों को तो लाभ पहुंचाते हैं, पर कई लोगों को हानि पहुंचाते हैं। जब सब के फायदे के लिए प्रतीत होते हैं तो भी सब लोगों को समान मात्रा में फायदा महसूस नहीं होता।

अतः नैतिक निर्णय ऐसा निर्णय है जिसमें न्याय और अधिकार के पहलुओं को गंभीरतापूर्वक नैतिक समझ का विषय बनाया गया है—क्या निर्णय न्याय के आधार पर लिया गया है? क्या इसमें प्रभावित व्यक्ति को विचारा गया है? क्या समस्त प्रभावित पक्षों के बारे में न्यायपूर्ण ढंग से विचारा गया है?

केनेथ गुडपेस्टर ने नैतिक निर्णयों के तीन स्तर बताए हैं—(1) व्यक्तिगत स्तर, (2) संस्थानगत स्तर तथा (3) प्रणालीगत स्तर।

व्यक्तिगत स्तर पर संस्थान की व्यापारिक नीति के मुताबिक रोजमर्रा के व्यापार चलाने हेतु प्रबंधक द्वारा किए गए निर्णय आते हैं। समस्या तब आती है जब नीति स्पष्ट न हो अथवा कोई अप्रत्याशित परिस्थिति उत्पन्न हो जाए। ऐसी हालत में प्रबंधक के निर्णय में नैतिकता का आयाम विशेषतया इसलिए जुड़ जाता है कि जिस मुद्दे पर निर्णय लिया, वह नैतिक मुद्दा था।

संस्थानगत स्तर पर वे निर्णय आते हैं जो व्यक्तिगत नहीं हैं, अपितु संस्थान की ओर से संस्थान की नीति के बारे में लिए गए हैं, जिनका उद्देश्य संस्थान में कार्यरत कर्मचारियों का मार्गदर्शन करना तथा जो संस्थान के अन्य घटकों—जैसे ग्राहकों, आपूर्तिकर्ताओं इत्यादि के हितों के बारे में हैं।

प्रणालीगत स्तर पर वे निर्णय आते हैं जो संस्थान को अपने जैसे अन्य संस्थानों अथवा समूचे उद्योग से जोड़ते हैं और नियामक संस्थाओं तथा सरकार से संबंधों के बारे में हैं।[3]

❖

संदर्भ :

1. ओलिवर शेल्डन, दि फिलोसॉफी ऑफ मैनजमेंट, सर आइजक पिटमेन एंड संस, 1923, पृ. 280-91
2. मिल्टन फ्रीडमेन, दि सोशियल रिस्पोंसिबिलिटी ऑफ बिजनेस इज टु इन्क्रीज इट्स प्रोफिट्स, बोचेम्प एवं बोबी संपादित एथिकल थ्योरी एंड बिजनेस में संकलित, 1988
3. केनेथ ई. गुडपेस्टर, दि कंसेप्ट ऑफ कॉर्पोरेट रिस्पोंसिबिलिटी—जर्नल ऑफ बिजनेस एथिक्स 2, सं. 1 (फरवरी 1982), पृ. 2-3

❖❖

अनुभूति

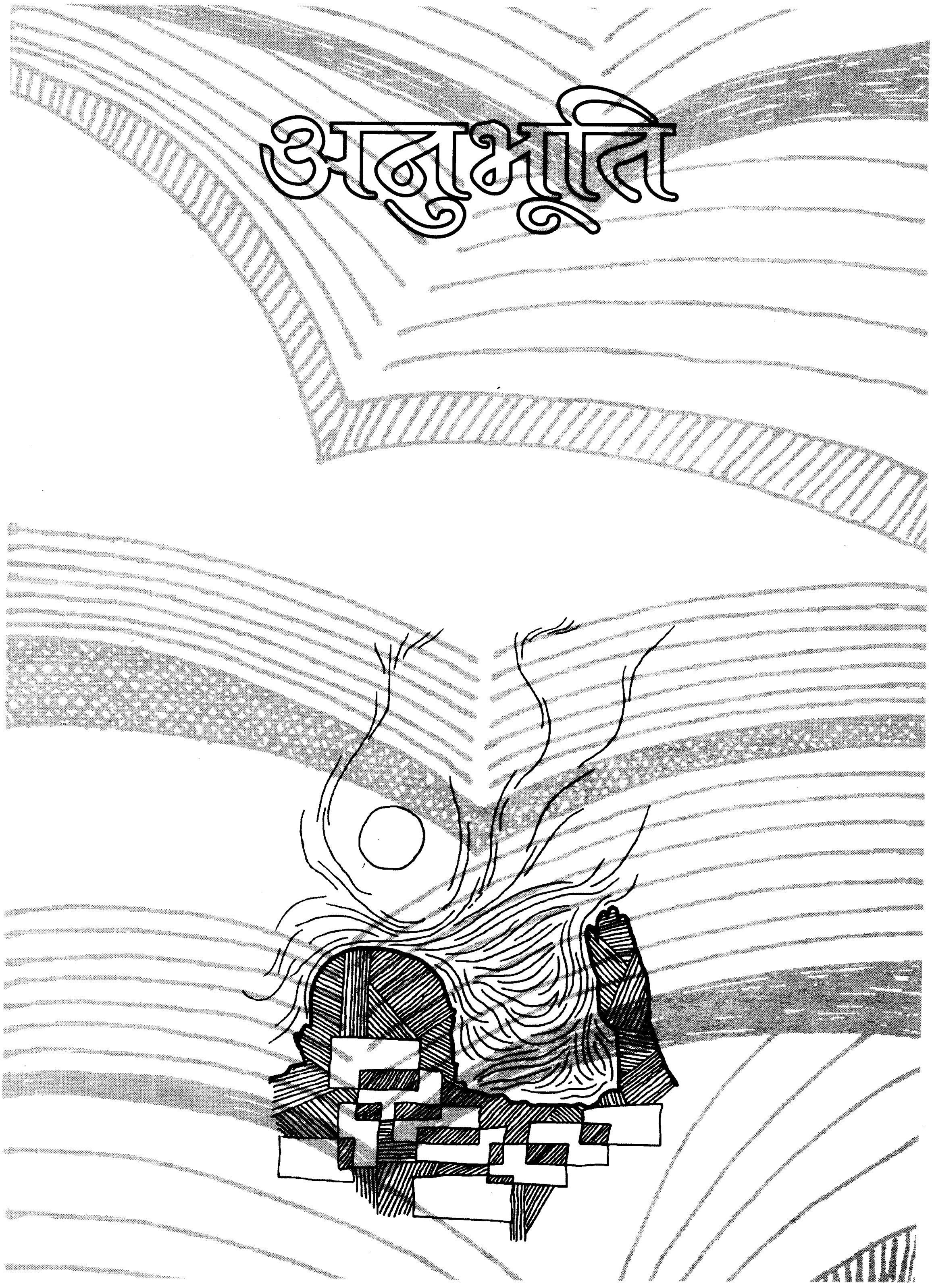

मैं ने देखा
एक बूंद सहसा
उछली सागर के झाग से :
रंग गई क्षण-भर
ढलते सूरज की आग से।

मुझ को दीख गया :
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से!

—अज्ञेय

कोरा जीवन होना बड़ी बात नहीं है। अजीवन से जीवन होना, अप्राणी से प्राणी होना एक विकास है, बड़ी बात है। किंतु केवल जीवन होना, केवल प्राणी होना—उतनी बड़ी उपलब्धि नहीं है, जितनी कि जीवन के साथ-साथ विज्ञान की चेतना के विकास होने में निहित है। प्राणशक्ति के साथ-साथ चेतना की शक्ति का विकास होना और नए आयामों का उद्घाटन होना, नई दिशाओं का प्रस्फुटन होना—यह बहुत बड़ी बात है। मैं मनुष्य हूं—इसमें ये दोनों बातें समाई हुई हैं। मैं मनुष्य हूं इसलिए प्राणशक्ति का भी विकास कर सकता हूं। प्राण के नए आयाम प्रस्फुटित हो सकते हैं और चेतना की नई दिशाएं भी उद्घाटित हो सकती हैं।

❑ मनुष्य होने का अर्थ

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

'मैं मनुष्य हूं'—यह सबसे बड़ा आलंबन है। आरोहण के लिए आलंबन चाहिए। संस्कृत साहित्य में कहा गया है कि लता, पंडित और स्त्री—तीनों को आगे बढ़ने के लिए सहारा चाहिए, कोई आश्रय चाहिए। जो प्राणी विकास की प्रक्रिया से गुजरता है, उसे भी कोई आलंबन चाहिए।

हमारे जगत् में दो प्रकार के तत्त्व हैं—प्राणी और अप्राणी। जिसमें प्राणशक्ति होती है, जीवन-शक्ति होती है, प्राण का स्पंदन और प्रकंपन होता है—वह प्राणी है। एक ऐसा भी तत्त्व है जिसमें प्राण का प्रकंपन नहीं है, वह अप्राणी है। हम प्राणी वर्ग में आते हैं। हम सांस लेते हैं। हमारा हृदय धड़कता है। हमारे में प्राण का प्रकंपन होता है। प्राण हमारे जीवन का लक्षण है। जीवन एक बात है और विज्ञान उसका अगला चरण है। सभी प्राणी विज्ञान की चेतना को उपलब्ध नहीं होते। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसे विज्ञान की चेतना उपलब्ध है। पुरानी भाषा में विज्ञान का अर्थ है—विवेक-चेतना या अनुभव-चेतना। आज की भाषा में विज्ञान का अर्थ है—प्रयोगात्मक चेतना का विकास या परिणामात्मक चेतना का विकास।

—प्रज्ञा दिवस—
आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी
पर
विशेष

यह विज्ञान हर प्राणी को उपलब्ध नहीं होता, केवल मनुष्य को ही उपलब्ध होता है। हम मनुष्य हैं, यह एक बड़ा आलंबन है—ऊर्ध्वारोहण के लिए, चेतना के विकास के लिए। हमारी दो शक्तियां हैं—एक है प्राण की शक्ति, दूसरी है चेतना की शक्ति। ये दोनों शक्तियां शेष सब प्राणियों से मनुष्य को भिन्न करती हैं। वनस्पति जगत् से पशु-पक्षी जगत् तक जितने भी प्राणी हैं, उन प्राणियों से मनुष्य को भिन्न करने वाली शक्ति है—चेतना का विकास, विवेक की शक्ति, अनुभव की शक्ति। मनुष्य ही विवेक कर सकता है और विशिष्ट प्रकार का अनुभव भी कर सकता है। हम मनुष्य हैं इसलिए चेतना के विकास के अधिकारी हैं।

भर्तृहरि ने मनुष्य और पशु के बीच में एक भेद-रेखा खींची। उन्होंने बताया—आहार, नींद, भय और मैथुन—ये चार सामान्य वृत्तियां हैं। ये पशु में भी होती हैं, मनुष्य में भी होती हैं। इस रूप में पशु और मनुष्य में कोई भेद नहीं किया जा सकता। उनके बीच कोई भेद-रेखा है तो वह है—धर्म। धर्म के द्वारा पशु और मनुष्य में भेद किया जा सकता है।

शब्द की अपनी शक्ति होती है। शब्द के अर्थ का विकास भी होता है, ह्रास भी होता है। भाषा-विज्ञान के नियम को जानने वाले इस बात को जानते हैं कि शब्द के अर्थ का उपक्रमण और अपक्रमण होता रहता है। अर्थ का परिवर्तन होता है। आज 'धर्म' शब्द का अर्थ कुछ बदल गया है। आज का आदमी 'धर्म' शब्द की भाषा को कम समझने लगा है और यह शब्द कुछ रूढ़ियों के साथ जुड़ गया है।

यदि हम नई भाषा में इस पर चिंतन करें तो धर्म के स्थान पर हमें एक दूसरा शब्द खोजना होगा और वह शब्द हो सकता है—'विज्ञान'। मनुष्य और पशु में जो अंतर है—वह विज्ञान का अंतर है। पशु में विज्ञान नहीं है, विवेक की चेतना नहीं है। मनुष्य में विज्ञान है, विवेक की चेतना है। यही पशु और मनुष्य में एक मौलिक अंतर है। पशु प्राणशक्ति का अधिकारी है, उसमें प्राणशक्ति है, पर प्राणशक्ति का विकास वह नहीं कर सकता; आज तक नहीं कर पाया। एक पशु हजारों वर्ष से बराबर भार ढो रहा है। वह बैलगाड़ी से जुता हुआ है, भार ढो रहा है, किंतु उसकी चेतना में कोई परिवर्तन नहीं आया। न यह प्रश्न उठा कि मुझ पर भार क्यों लादा जा रहा है? न यह प्रश्न उठा कि यह भार छूटना चाहिए। न उसने कोई क्रांति की कि मुझे भार-मुक्ति मिलनी चाहिए।

यदि मनुष्य की चेतना पशु में होती और पशु विद्रोह कर देते तो मनुष्य के सामने समस्याएं पैदा हो जातीं। पर गाड़ी से जुता बेचारा बैल आज भी मार खा रहा है और वैसे ही जुता हुआ है, जैसे पुराने जमाने में था। कोल्हू से जुता हुआ बैल आंखों पर पट्टी बांधे हुए वैसे ही चक्कर लगा रहा है, जैसे हजार वर्ष पहले लगा रहा था। उसका कोई विकास नहीं हुआ। न चेतना का विकास हुआ और न प्राणशक्ति का विकास हुआ।

मनुष्य ने प्राणशक्ति का भी विकास किया और विवेकशक्ति का भी विकास किया। दो शताब्दियों पहले जो चिंतन था, आज वह चिंतन बहुत विकसित हो गया—सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में, आर्थिक समस्याओं के संदर्भ में और चारित्रिक समस्याओं के संदर्भ में। जीवन-प्रणाली और राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य का प्रत्येक चरण आगे से आगे विकास करता चला जा रहा है। इसका कारण है कि उसमें विवेक की शक्ति है, विज्ञान की शक्ति है।

कोरा जीवन होना बड़ी बात नहीं है। अजीवन से जीवन होना, अप्राणी से प्राणी होना एक विकास है, बड़ी बात है। किंतु केवल जीवन होना, केवल प्राणी होना—उतनी बड़ी उपलब्धि नहीं है, जितनी कि जीवन के साथ-साथ विज्ञान की चेतना के विकास होने में निहित है। प्राणशक्ति के साथ-साथ चेतना की शक्ति का विकास होना और नए आयामों का उद्घाटन होना, नई दिशाओं का प्रस्फुटन होना—यह बहुत बड़ी बात है। मैं मनुष्य हूं—इसमें ये दोनों बातें समाई हुई हैं। मैं मनुष्य हूं इसलिए प्राणशक्ति का भी विकास कर सकता हूं। प्राण के नए आयाम प्रस्फुटित हो सकते हैं और चेतना की नई दिशाएं भी उद्घाटित हो सकती हैं।

हमारे प्राण की अनेक धाराएं हैं, शक्तियां हैं। उनमें चार मुख्य धाराएं हैं—शरीरबल, भाषाबल, मनोबल और श्वास का बल। मनुष्य ने चारों बलों का, चारों शक्तियों का विकास किया है। शरीरबल का विकास किया है। पशु में शरीर का बल बहुत होता है, किंतु अपनी-अपनी स्थिति में जितना है, उतना ही रहता है। किंतु मनुष्य बहुत विकास कर सकता है। प्राणशक्ति की दिशा में, अपनी शक्ति की दिशा में मनुष्य ने विकास किया है। क्योंकि उसमें विवेक की चेतना और विकास की चेतना है। इसलिए वह हर दिशा में

विक्रम संवत 2000। यह मेरे जीवन में नए उन्मेष का वर्ष था। इस अवधि में मुझे संस्कृत, प्राकृत और दर्शनशास्त्र के अनेक ग्रंथों के अध्ययन का सहज अवसर मिला था। मैंने हिंदी में लिखना उसी वर्ष शुरू किया था। मैं संस्कृत से हिंदी में आया और इसलिए मेरी हिंदी उस समय संस्कृतनिष्ठ ही रही। फिर भी हिंदी में लिखना मुझे अच्छा लगा। कुछ मुनियों का आग्रह था कि मैं 'पचीस बोल' की हिंदी में व्याख्या लिखूं। मेरे मन में संकोच था। हिंदी में मैंने कभी कुछ-लिखा नहीं था। जो-कुछ लिखना होता, वह संस्कृत में ही लिखता। कभी प्राकृत में भी लिखता। ये दोनों प्राचीन भाषाएं हैं और लोग इन्हें मृतभाषा कहते हैं।

अतीत जीवित कैसे होगा? वह तो मृत ही होगा। जीवित केवल वर्तमान होता है। मैं भाषा के साथ-साथ दर्शन का विद्यार्थी भी हूं। यह मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। दर्शन को मैंने अनेकांत के आलोक में पढ़ा है। अनेकांत का विद्यार्थी किसी को सर्वथा जीवित अथवा सर्वथा मृत कैसे मान सकता है? मैंने वर्तमान के साथ संपर्क स्थापित किया, पर अतीत के साथ स्थापित संपर्क को कभी कम नहीं किया। अतः दोनों में संतुलन बना रहा। मैंने हिंदी में 'पचीस बोल' की व्याख्या लिखी और वह ग्रंथ 'जीव-अजीव' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह मेरी पहली रचना थी, हिंदी के क्षेत्र में और दर्शन के क्षेत्र में भी।

प्रो. हीरालाल रसिकदास कापड़िया अहिंसा पर

विकास की बात सोचता रहता है। एक मनुष्य में विवेक-चेतना नहीं होती तो पशु भी मनुष्य पर हावी हो जाता। ऊंट में जितना बल होता है, एक घोड़े में जितना बल होता है, एक भैंसे में जो ताकत है—उसके सामने मनुष्य के शरीर की कोई ताकत नहीं है, पर घोड़ा भी मनुष्य के वश में चलता है, हाथी भी मनुष्य के अधीन है, भैंसा भी मनुष्य के अधीन है और मनुष्य सिंह को भी पिंजरे में डाल देता है। इसका कारण है कि उसकी चेतना में विकास की प्रक्रिया निरंतर चलती है। वह निरंतर उपाय और समाधान खोजता रहता है और समस्याओं से निपटता रहता है। जब चेतना का आयाम खुलता है तो असंभव कल्पना भी संभव बन जाती है, कोई बात दुरूह नहीं होती।

निरंतरता बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, बहुत मूल्यवान बात है। कोई व्यक्ति पांच मिनट भी निरंतर श्वास का अनुभव करे और बीच में यदि कोई विकल्प न आए तो पांच मिनट के बाद उसे ऐसा लगेगा कि शरीर में किसी नई ऊर्जा शक्ति का संचार हो गया है, बैटरी को इतना 'चार्ज' किया गया है कि भीतर से प्रकाश की, प्राण की, ऊर्जा की धाराएं दौड़ने लगी हैं। शक्ति का विस्फोट होने लग गया है।

बिंदुपात एक बात है और धारापात दूसरी बात है। बिंदुपात होता है—एक बूंद गिरी, दो मिनट के बाद फिर बूंद गिरी। पहली बूंद सूख जाती है, दूसरी भी सूख जाती है, तीसरी भी सूख जाती है। पृथ्वी के ताप में और रेत में बूंदें सूखती चली जाती हैं। और धारापात हो, धारापात का अर्थ

अनेकांत के आलोक में काल का अनावरण

भारतीय मनीषा के शीर्ष पुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञजी (जन्म दिवस-आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी, 15 जून, 2004) अपने इस आलेख में अपना जीवन-वृत्त तो खोलते ही हैं, अपने शिक्षा-गुरु आचार्यश्री तुलसी (महाप्रयाण-आषाढ़ कृष्णा तृतीया, 5 जून, 2004) और आदिगुरु आचार्यश्री भिक्षु (जन्म दिवस-आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी, 30 जून, 2004) को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए उनसे जुड़े तत्समय के प्रसंगों को प्रभावी और रोचक रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह विरल संयोग है कि एक साथ तीन महा-मनीषियों के जीवन के ये विशेष दिवस आषाढ़ मास में ही हैं और इस प्रकार यह मास इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान बना लेता है। ऐसे विशिष्ट अवसर पर जैन भारती के पाठकों के लिए प्रज्ञा-पुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह प्रेरक आलेख—

केंद्रित एक ग्रंथ के लिए कार्य कर रहे थे। उन्होंने आचार्यश्री तुलसी के पास एक प्रस्ताव भेजा—आचार्य भिक्षु के अहिंसा विचारों को उस ग्रंथ में मैं देना चाहता हूं। मुझे हिंदी में उनके विचारों का एक आलेख उपलब्ध कराएं। आचार्यश्री उस समय चाड़वास (चूरू, राजस्थान) में विराज रहे थे। उन्होंने मुझे बुलाकर पूछा—'क्या तुम हिंदी में निबंध लिख सकते हो?' मैंने कहा—'लिख सकता हूं।' आचार्यवर ने कहा—'अहिंसा के संबंध में आचार्य भिक्षु के विचारों पर एक निबंध लिखो।' मैंने आचार्यवर के आदेश को शिरोधार्य किया और कार्य प्रारंभ कर दिया। कार्य की तत्काल क्रियान्विति में मेरा विश्वास रहा है। किसी कार्य को अधर में लटकाए रखना मेरी प्रकृति में नहीं। इसीलिए निबंध लिखने का कार्य शीघ्र ही संपन्न हो गया। यह 'अहिंसा' शीर्षक से एक लघु पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित हुआ।

अहिंसा के संबंध में आचार्य भिक्षु के विचार बहुत मौलिक हैं। शुद्ध साध्य की सिद्धि के लिए शुद्ध साधन होना जरूरी है। इस सिद्धांत पर आचार्य भिक्षु ने बहुत बल दिया। मेरा अभिमत है कि इस सिद्धांत पर बल देने वाले और इस पर तार्किक पद्धति से विश्लेषण करने वाले भारतीय मनीषियों में आचार्य भिक्षु का स्थान अग्रणी है। महात्मा गांधी भी इस क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं। 'अहिंसा' पुस्तिका उनके पास भी पहुंची। उन्होंने उस पर कई टिप्पणियां भी लिखीं और आचार्य भिक्षु के बारे में उनके मन में एक जिज्ञासा भी जागी।

उन दिनों में हमारे धर्मसंघ को प्रबुद्ध लोग रूढ़िवादी मानते थे। दूसरे संप्रदाय के लोग कुछ

होता है—प्रवाह। धारा बहने लगती है तो नाले का, नदी का बड़ा रूप ले लेती है। बिंदुपात से शक्ति का विकास नहीं होता। शक्ति का विकास धारापात से होता है।

बिंदुपात में निरंतरता नहीं होती और धारापात में निरंतरता होती है। बिंदुपात में अंतराल आ जाता है। अंतराल का अर्थ है—काल का व्यवधान। 'कालः पिबति तद्रसं'—काल उसके रस को पी जाता है। जो रस होता है—बीच में समय, अंतराल आ गया कि उसको काल पी गया, जहां निरंतरता होती है, धारापात होता है—वहां काल उसके रस को पीता नहीं, किंतु आगे बढ़ा देता है।

निरंतरता का बहुत मूल्य है। जिस व्यक्ति ने श्वास का निरंतर अनुभव करना सीख लिया, उसने शरीरबल, मनोबल और वाक्बल—वाणी का बल—को विकसित करने का एक बहुत बड़ा रहस्य हस्तगत कर लिया।

आज सबसे बड़ी कमी यह है कि लोग निरंतरता की बात को भूल गए, शक्ति में निरंतर प्रवाह की बात को भूल गए। ऐसा लगता है जैसे हम धारा को भूल ही गए। प्रवाह को बिलकुल भूल गए। हमारी प्राण की धारा निरंतर एक दिशा में प्रवाहित होती रहे तो खेलकूद के क्षेत्र में, शिक्षा के क्षेत्र में, विज्ञान के क्षेत्र में, हर क्षेत्र में भारतीय प्रतिभाएं सर्वोच्च स्थान बना सकती हैं।

शब्द की भी अपनी शक्ति है। शब्द के माध्यम से जितना विकास होना है वह तो होगा, किंतु जो विशिष्टता आनी चाहिए, जो क्षमता आनी चाहिए, जो दक्षता आनी चाहिए वह कैसे आएगी? कार्य होना एक बात है, कार्य की क्षमता का विकास होना दूसरी बात और कार्य-क्षमता में दक्षता आना तीसरी बात है। वह दक्षता कैसे आएगी? निपुणता का भी कोई महत्त्व होता है। निपुणता पुस्तकें नहीं लाती, निपुणता चेतना लाती है। चेतना और पुस्तक दोनों का योग हो तब तो दक्षता बढ़ेगी। कोरी पुस्तक है तो चेतना की विशिष्टता नहीं जुड़ पाएगी, दक्षता संभव नहीं हो सकेगी। अतः मूल प्रश्न है निरंतरता का, एकाग्रता का।

मनुष्य ही प्राणशक्ति का विकास कर सकता है। प्राणशक्ति का ऐसा विकास होता है कि शस्त्र का प्रहार हो रहा है, पर कोई असर नहीं हो रहा है। हमने आंखों से देखा कि एक भाई ने श्वास भरा, फिर श्वास को रोका और हाथ फैला दिया। दस आदमी उस हाथ को पकड़कर लटक गए, पर हाथ तो टस से मस नहीं हुआ। यह प्राणशक्ति का विकास है। शरीर-बल का विकास मनुष्य ही कर सकता है, क्योंकि उसमें विवेक है। शरीर-बल के बड़े अद्भुत विकास मनुष्य ने किए हैं। आज भी यह परंपरा लुप्त नहीं है, किंतु उसके प्रति जो महत्त्व का भाव होना चाहिए, जो उसका मूल्यांकन होना चाहिए वह नहीं है। किस प्रक्रिया से शरीरबल को विकसित किया जा सकता है, बढ़ाया जा सकता है—हमारी यह चेतना शायद इतनी जागरूक नहीं है।

मनोबल का विकास भी बहुत अपेक्षित है। इतना अद्भुत मनोबल कि कठिन से कठिन समस्या आ जाने पर भी घुटने नहीं टिकते। अधिक लोग ऐसे मिलेंगे कि

सैद्धांतिक प्रश्न उपस्थित कर तेरापंथ को व्यवहार को विघटित करने वाला बतलाते थे। इस स्थिति में हम एक वैचारिक अवरोध का अनुभव कर रहे थे। आचार्यश्री तुलसी के मन में उस अवरोध को मिटाने की तड़प जागी। उन्होंने आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों को दर्शन की भाषा और शैली में प्रस्तुत करना शुरू किया। मुझे प्रारंभ से ही यह सौभाग्य मिला है कि मैं उनकी हर कृति में उनके साथ रहा। जयाचार्य को आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला तो मुझे आचार्य तुलसी का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला और साथ-साथ आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य भी मुझे उपलब्ध हुआ। आचार्यश्री ने 'जैन सिद्धांत दीपिका' नामक एक संस्कृत ग्रंथ लिखा। उसके एक अध्याय में आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। दर्शन के स्तर पर सूत्र की शैली में आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों को प्रस्तुत करने का यह पहला प्रयत्न था।

एक दिन डॉ. सतकोड़ि मुखर्जी को मैंने यह अध्याय सुनाया। उसे सुनकर डॉ. मुखर्जी ने कहा—'यह तो बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। यह इतने दिन प्रकाश में क्यों नहीं आया? खेद है, आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जन्मे। यदि वे जर्मनी में जन्मे होते तो उनका महत्त्व इम्युअल कांट से कम नहीं होता। डॉ. मुखर्जी के विचारों से मुझे संतोष का अनुभव हुआ। आचार्य भिक्षु के जिस दृष्टिकोण को आचार्यश्री तुलसी दार्शनिक शैली में प्रस्तुत कर रहे हैं और मैं जिसका भाष्य कर रहा हूं, वह दृष्टिकोण सारयुक्त और वर्तमान की समस्या को समाधान देने वाला है—यह मुझे लगा।

प्रारंभ से ही मेरी यह दृष्टि रही कि जो दर्शन या

समस्या न आए तब तक तो सब ठीक है, पर ज्योंही समस्या आई कि घुटने टिकने में देर नहीं लगती। इसका कारण है कि मनोबल नहीं है। मनोबल इतना क्षीण है कि सहिष्णुता का विकास नहीं है। हम जिस दुनिया में जीते हैं, वहां अनुकूलता भी है, प्रतिकूलता भी है। अनुकूलता को सहना भी बड़ा कठिन काम है और प्रतिकूलता को सहना भी कठिन काम है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि प्रतिकूल परिस्थिति की अपेक्षा अनुकूल परिस्थिति को सहना और ज्यादा कठिन है। क्यों? जब मनुष्य के सामने अनुकूलता आती है तब आवेग बढ़ जाता है, अहंकार बढ़ जाता है। आदमी उसे सहन नहीं कर पाता। ऐसा भी हो सकता है कि एक साथ अधिक अनुकूलता पर आदमी अपने-आप को ही भूल जाए। कभी-कभी प्राण-वियोग भी हो जाता है।

अनुकूलता को सहना भी बड़ा कठिन होता है। हम लोग द्वेष को तो फिर भी सह लेते हैं, पर राग को नहीं सह पाते। अप्रिय संवेदनों को झेल लेते हैं, पर प्रिय संवेदन को झेलना बहुत कठिन होता है। हमारी शक्ति का ऐसा विकास

धर्म वर्तमान समस्या का समाधान नहीं देता, वह उपयोगी नहीं हो सकता। और जो उपयोगी नहीं हो सकता वह चिरजीवी नहीं हो सकता। बासी चीज की उपयोगिता स्वतः ही कम होती जाती है और एक दिन वह फेंक दी जाती है।

आचार्य भिक्षु ने एक सूत्र दिया था—'बड़े जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों को मारना अहिंसा नहीं है। छोटे जीवों को मारकर बड़े जीवों का पोषण करना अहिंसा नहीं है।' इस सूत्र ने मुझे बहुत आंदोलित किया। मैंने मार्क्स और लेनिन के साहित्य को देखा। सामाजिक शोषण और असमर्थ लोगों के प्रति होने वाली क्रूरता के प्रति एक विशेष संवेदना जाग उठी। दान के नाम पर चलने वाले छद्म के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित हुआ। मैंने एक लघु पुस्तिका लिखी। उसका शीर्षक था—'उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार।' इस पुस्तिका पर कुछ जैन पत्रों ने टिप्पणी की—'मुनि नथमलजी साम्यवादी हो गए हैं।' राजनीतिक अर्थ में मैं साम्यवादी नहीं बना। मार्क्स की विचारधारा के प्रति मेरा झुकाव निश्चित ही रहा, पर अच्छे साध्य के लिए अशुद्ध साधन को काम में लाया जा सकता है—इस साम्यवादी सिद्धांत से मैं कभी सहमत नहीं हो सका।

आचार्य भिक्षु के 'शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन' की अमिट छाप मेरे मन पर अंकित थी। उन दिनों गांधीजी के विचार भी बहुत चर्चित हो रहे थे। वे भी शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन के सिद्धांत पर बल दे रहे थे। दार्शनिक संदर्भ में आचार्य भिक्षु ने और राजनीतिक प्रणालियों के संदर्भ में महात्मा गांधी ने इस सिद्धांत पर जितना बल दिया, उतना शायद कम विचारकों ने दिया। इसीलिए हरिभाऊ उपाध्याय कहा करते थे कि अध्यात्म और राजनीति की पृष्ठभूमि को अलग रखने पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के अहिंसा संबंधी विचार में मुझे कोई अंतर नहीं लगता।

आचार्य भिक्षु को पढ़ने के पश्चात् मैंने महात्मा गांधी को पढ़ा। अहिंसा के विषय में दोनों के विचारों में अद्भुत समानता पाई। अहिंसा मेरा प्रिय विषय बन गया और वर्षों तक मैं इसी विषय पर लिखता रहा और जीवन में प्रयोग भी करता रहा।

आचार्यश्री तुलसी का चातुर्मासिक प्रवास (वि. सं. 2011) मुंबई में हुआ। परमानंद कापड़िया ने तेरापंथ की अहिंसा विषयक दृष्टि पर एक समीक्षा लिखी। आलोचना का स्तर अच्छा था। इससे पूर्व तेरापंथ के अहिंसा विषयक सिद्धांत की इस स्तर की आलोचना नहीं देखी थी। यह लेख गुजराती भाषा में था। उसका शीर्षक था—'अहिंसा की अधूरी समझ'। आचार्यश्री तुलसी ने वह लेख पढ़ा और मुझे बुलाकर कहा—'अब तक हमने आलोचना का प्रत्युत्तर नहीं दिया। पहली बार यह स्तर की आलोचना निकली है, जिसमें गाली-गलौज नहीं, किंतु एक चिंतन है। अब हमें इसका प्रत्युत्तर देना चाहिए। तुम एक लेख लिखो।' मैंने उस पर—'अहिंसा की सही समझ' शीर्षक से एक लेख लिखा। श्रीचंदजी रामपुरिया ने कापड़ियाजी का और मेरा—दोनों लेख 'जैन भारती' पत्रिका में एक साथ छापे। कापड़िया ने तब 'प्रबुद्ध जीवन' पत्रिका में लिखा—'मेरे लेख में कहीं-कहीं व्यंग्य भी है, कटूक्तियां भी हैं, किंतु मुनिश्री नथमलजी ने जो लेख लिखा है, उसमें केवल समीक्षा है, न कोई व्यंग्य और न कोई कटूक्ति।' इससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। मेरे मन में यदि अहिंसा के बीज अंकुरित नहीं होते, तो मैं भी

हो, जिसमें हम अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों को झेल सकें। मनोबल का इतना विकास हो जाए कि अनुकूलता के सामने घुटने न टिकें और प्रतिकूलता के सामने भी घुटने न टिकें। ऐसे मनोबल का विकास हो सकता है। भारतीय चेतना में शरीरबल और मनोबल के विकास की बहुत घटनाएं घटित हुई हैं। यदि हिंदुस्तान के पास मनोबल नहीं होता तो इतने बड़े ब्रिटिश साम्राज्य से अशस्त्र होकर लड़ना और शताब्दियों से खोए हुए वैभव को, अपनी स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त कर लेना कोई सामान्य घटना नहीं है। यह विशिष्ट घटना है और केवल मनोबल के आधार पर ही बहुत बड़ा काम हुआ है। और भी कुछ परिस्थितियां हो सकती हैं, पर उन सारी परिस्थितियों में मनोबल का बहुत बड़ा योग है।

वाणी का बल भी बड़ा ही अद्भुत है। हमारी प्राणधारा यदि वाणी के साथ जुड़ जाए और वाणी का बल बढ़े तो एक व्यक्ति के मुंह से निकलने वाली बात विफल नहीं हो सकती। हमारे यहां वचनसिद्धि मानी गई है। वचन की सिद्धि जिस व्यक्ति को होती है, उसके मुंह से जो बात निकल जाती है, वह घटित होती है। यानी पदार्थ-जगत् प्रभावित होता है, परमाणुओं में एक हलचल हो जाती है और उन परमाणुओं को बदलना ही पड़ता है और वैसी घटना को घटित होना पड़ता है। आज भी ऐसे लोग मिलते हैं कि जिनके मुंह से कोई वचन निकल गया—वह बात होती ही है। वचन में इतनी बड़ी शक्ति आ जाती है। यह भी प्राणशक्ति के विकास के द्वारा संभव है। प्राणशक्ति जुड़ जाए तो शरीर का बल कल्पनातीत बढ़ जाता है। प्राण की धारा जुड़ जाए तो वाणी का बल बढ़ जाता है और प्राणशक्ति की धारा जुड़ जाए तो मन का बल भी बढ़ जाता है। प्राण की धारा जुड़ जाए तो श्वास का बल भी बढ़ जाता है।

आज हमारी स्थिति यह है कि श्वासबल की बात तो दूर रही, श्वास को सम्यक् लेना भी नहीं जानते। सम्यक् श्वास का लक्षण है कि पेट फूलना चाहिए। सीना फूलना सम्यक् श्वास का लक्षण नहीं है। सीना तो अपने आप फूलेगा, किंतु श्वास के कंपन पेट तक जाएं। जो हमारी मांसपेशी है—तनुपट, वह थोड़ा नीचे जाए और श्वास लेते समय पेट फूले और छोड़ते समय सिकुड़े। जब हम श्वास लेते हैं तब छह-सात लीटर हवा पेट में जाती है। इतनी हवा जाती है और उस हवा का दबाव जब नीचे जाता है तो पेट फूलेगा और छोड़ेंगे तब सिकुड़ेगा। बिलकुल सामान्य-सी बात है। पर ऐसा सम्यक् श्वास भी हमारे जीवन में नहीं है। जब श्वास सम्यक् नहीं है, श्वास का बल नहीं है तो ईंधन के बिना चूल्हा प्रज्वलित नहीं होता। शरीरबल, मनोबल, वाक्‌बल—इन शक्तियों का चूल्हा तब जलेगा जब उसे श्वास का ईंधन मिलेगा। प्राणवायु प्रज्वलित होगी—तब यह चूल्हा जलेगा। मूल बात शरीरबल नहीं है, मूल बात वाणी और मनोबल भी नहीं है। आधारभूत और मौलिक बात है—श्वास का बल, सम्यक् श्वास।

व्यंग्य और कटूक्ति से शायद नहीं बच पाता।

मैं जैन मुनि हूं। जैन दर्शन मेरे अध्ययन का विषय बना। फिर भी इस स्वीकृति को मैं आवश्यक मानता हूं कि गांधी साहित्य से मुझे जैन धर्म को आधुनिक संदर्भ में पढ़ने की प्रेरणा मिली। मैंने एक पुस्तक लिखी। उसका नाम था—'आंखें खोलें।' उसके पांच अध्याय हैं। उसमें एक अध्याय है—जातिवाद। आचार्यश्री तुलसी ने उसे देखकर कहा—'यह पुस्तक बाहर जाएगी तो समाज में बहुत चर्चा होगी। अभी इसे रहने दो।' फिर दो क्षण के चिंतन के बाद कहा—'यह तो वास्तविकता है। जैन धर्म में जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर चर्चा से क्यों डरना चाहिए?' पुस्तक सामने आ गई। कुछ ऊहापोह हुआ। साथ-साथ यथार्थ को प्रस्तुत करने का मुझे संतोष भी मिला।

गांधी साहित्य के माध्यम से मैंने रस्किन और टॉलस्टाय को पढ़ा तो मुझे और अधिक व्यापक संदर्भ में चिंतन करने का अवसर मिला। आचार्य भिक्षु ने संप्रदायातीत धर्म की नींव को बहुत मजबूत किया था। उन्होंने इस पर बहुत बल दिया कि धर्म मुख्य है, संप्रदाय गौण। यही सूत्र अणुव्रत के प्रवर्तन का आधार बना। आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। तब उसकी समीक्षा इन स्वरों में हुई—'आचार्यश्री जैन और अजैन—सभी को एक पंक्ति में ला रहे हैं।' यदि आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण का सुदृढ़ आधार उपलब्ध नहीं होता तो काफी समस्याएं सामने आतीं। पर उस उदार दृष्टि ने सामने आने वाली किसी भी समस्या को चिरजीवी नहीं बनने दिया।

श्वास सम्यक् होगा तो शरीर की शक्ति बढ़ जाएगी। हम प्रयोग कर सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं कि किसी भी अवयव को मजबूत करना है, किसी भी अवयव को निरोग करना है, बीमारी को मिटाना है तो दस मिनट का समय लगाएं। निरंतर दीर्घश्वास लें, श्वास का संयम करें और चित्त को उसी अवयव पर टिका दें—जिसे हम निरोग करना चाहते हैं, जिसे शक्तिशाली बनाना चाहते हैं। कुछ दिनों बाद देखेंगे कि उस अवयव की ताकत बढ़ रही है, शक्ति का विकास हो रहा है और उस अवयव की रुग्ण अवस्था, कमजोरी समाप्त होती जा रही है। एक-दो दिन में चाहेंगे तो यह बड़ी असंभव बात लगेगी। निरंतर करें, लंबे समय तक करें—हमें निश्चित अनुभव होगा कि परिवर्तन हो रहा है। आज सारे संसार में ऊर्जा पर कितने अनुसंधान हो रहे हैं! ऊर्जा के नए-नए स्रोत खोजे जा रहे हैं। सबके लिए ऊर्जा के स्रोत चाहिए। हमारी प्राणिक ऊर्जा का स्रोत श्वास है। इसलिए हमें श्वास की ऊर्जा पर सबसे पहले ध्यान केंद्रित करना होगा।

सम्यक् श्वास कहां है? दीर्घश्वास का प्रयोग श्वास

अणुव्रत आंदोलन को दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का अवसर मिला। उससे मैं बहुत लाभान्वित हुआ। अतीत के चिंतन को वर्तमान की समस्याओं के संदर्भ में देखने की एक दृष्टि मिली और कुछ मौलिक विचार स्थापित हुए।

धर्म के विषय में यह प्रसिद्ध धारणा है—धर्म करो, परलोक सुधर जाएगा। धार्मिकों को वर्तमान की कोई चिंता नहीं, केवल परलोक को सुधारने की चिंता है। धार्मिक व्यक्ति उपासना में विश्वास करता है, चरित्र में विश्वास कम करता है। नैतिकता का आचरण आवश्यक नहीं माना जाता। नैतिकताविहीन धर्म भी चलता है। अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से बहुत-सारे प्रबुद्ध विचारक, व्यक्ति संपर्क में आए। पारस्परिक आदान-प्रदान में कालातीत और सामयिक—दोनों प्रकार की सचाइयों को समझने का अवसर मिला। अणुव्रत के मंच पर सभी धर्मों और विचारधाराओं के लोग आने लगे। सभी को सुनने का अवसर मिलता गया। उससे समन्वय की दृष्टि को बहुत बड़ा बल मिला। मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा। जैन दर्शन को पढ़ा। साथ-साथ अन्य दर्शन भी पढ़े। अनेकांत को पढ़ने के कारण अन्य दर्शनों के प्रति अन्यत्व का भान नहीं रहा। सत्य सत्य है, फिर उसे किसी भी दर्शन ने अभिव्यक्त किया हो। यही दृष्टि निष्पन्न हुई। अब मेरे सामने दर्शन दर्शन है, सत्य सत्य है, और सब भेद गौण हैं।

एक बार मुझे प्रतिश्याय हुआ और वह बिगड़ गया। एलोपैथी और आयुर्वेदिक इलाज कराए, पर कोई लाभ नहीं हुआ। स्थिति चिंतनीय बन गई। फिर प्राकृतिक चिकित्सा का योग मिला। मैं स्वस्थ हो गया। एक प्रेरणा जागी। लूई पूने को पढ़ा। प्राकृतिक चिकित्सा की बीसों पुस्तकें पढ़ीं। वहीं से मेरे योग जीवन का प्रारंभ हुआ। आसन और प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान की रुचि भी जागृत हुई। मैंने ध्वनि चिकित्सा का भी प्रयोग किया। उदात्त स्वर में बीज-मंत्रों की ध्वनि करने पर मैं कुछ हास्यास्पद भी बनता रहा। फिर भी कोई अंतःप्रेरणा काम कर रही थी, मैं उस प्रयत्न को छोड़ नहीं सका। आचार्यश्री की मुझ पर अनंत करुणा रही। मैं जो काम करता, उसमें उनका अनुमोदन और प्रोत्साहन मिल जाता। आचार्यश्री ने स्वयं प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग किया। आसन, प्राणायाम और ध्यान के प्रयोगों का ही उन्होंने सर्वात्मना समर्थन किया। धीरे-धीरे उन सबकी जड़ें हमारे संघ में गहरी होती चली गईं।

मैं इसे निसर्ग ही मानता हूं कि मेरे मन में क्रूरता की अपेक्षा करुणा अधिक प्रवाहित है। कोई भी व्यक्ति अपने में क्रूरता न होने का दावा नहीं कर सकता। करुणा और क्रूरता—दोनों धाराएं हर व्यक्ति में प्रवाहित होती रहती हैं—कोई बड़ी और कोई छोटी। असमर्थ वर्ग के प्रति समर्थ वर्ग के अतिक्रमणों की चर्चा जब-जब सुनता हूं, तब-तब मन करुणा से भर जाता है।

हमारी दुनिया के इतिहास में एक बहुत बड़ा भाग अन्याय के इतिहास का है—यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। रोटी, वस्त्र आदि पदार्थ संबंधी कठिनाइयों को हल करने में भी मनुष्य सफल नहीं हो रहा है, तब अन्याय की कठिनाइयों को हल करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। क्या यह सरल हो सकता है? यह प्रश्न आज भी मेरे लिए प्रश्न ही बना हुआ है।

साहित्यिक रुचि प्रारंभ से थी। संस्कृत में

की शक्ति को बढ़ाने का प्रयोग है। जो आदमी छोटा श्वास लेता है वह आदमी श्वासबल को विकसित नहीं कर सकता। छोटा श्वास चलता है, बहुत छोटा श्वास। कुछ लोग एक मिनट में 22-23 श्वास लेते हैं। बहुत छोटा श्वास लेते हैं। गति होनी चाहिए मंद श्वास की दिशा में, और हो रही है तीव्रश्वास की दिशा में। श्वास की गति जब मंद होगी, तब श्वास लंबा होता चलेगा, संख्या घटती जाएगी। जैसे-जैसे श्वास की संख्या घटेगी, जीवनशक्ति बढ़ेगी, शरीर की शक्ति बढ़ेगी, प्राण की शक्ति बढ़ेगी। जैसे-जैसे श्वास की संख्या बढ़ेगी आयु कम होगी, शक्ति का खर्च ज्यादा होगा। हम जागते समय जितने श्वास लेते हैं, नींद में उससे ज्यादा श्वास लेने लग जाते हैं। जहां जागते समय 15-16 श्वास लेते हैं वहां नींद में 20-22 श्वास हो जाएंगे। आवेग की स्थिति में श्वास और बढ़ जाते हैं। इसका अर्थ है कि जीवनशक्ति का क्षरण होने लग जाता है। हमारी शक्ति का अतिरिक्त व्यय होने लग जाता है। जो आदमी स्वस्थ जीवन जीना चाहता है, दीर्घायु होना चाहता है, अकाल मृत्यु नहीं चाहता, अपने शक्तिभंडार को जल्दी से खाली करना नहीं चाहता, उसके लिए दीर्घश्वास का प्रयोग सबसे महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है। यदि दीर्घश्वास का अभ्यास करें, श्वास की संख्या को घटाएं—15 की स्थिति से 10-8-7-5-2 तक ले जाएं तो अपने-आप श्वास का बल बढ़ेगा, शक्ति का व्यय बहुत रुक जाएगा। अतः श्वास की शक्ति जागे, श्वास का बल बढ़े!

प्राणशक्ति का विकास तीन धाराओं में चले—शरीर की शक्ति, वाणी की शक्ति और मन की शक्ति। उन तीनों धाराओं को विकसित करने के लिए श्वास का बल बढ़े और श्वासबल को बढ़ाने का एक उपाय हो सकता है—दीर्घ श्वास का प्रयोग। जैसे-जैसे दीर्घश्वास का अभ्यास बढ़ेगा तो एक नया आयाम खुलेगा। विद्यार्थी के जीवन में एक नई दिशा उद्‌घाटित होगी। वह विद्यार्थी केवल बौद्धिक विकास वाला विद्यार्थी नहीं होगा। बौद्धिक विकास बहुत जरूरी है, पर कोरा बौद्धिक विकास पर्याप्त नहीं है। बुद्धि का विकास तो बहुत है, शरीर साथ नहीं देता। क्या होगा? उसके साथ और भी विकास चाहिए। एक बात से हमारा जीवन कभी परिपूर्ण नहीं होता, समग्रता चाहिए। बौद्धिक विकास की बात बहुत अच्छी है किंतु उसके साथ-साथ शरीरबल, मनोबल और वचनबल का भी विकास होना चाहिए। उनके विकास का पहला सूत्र है—श्वासबल का विकास और श्वासबल के विकास का पहला सूत्र है—दीर्घश्वास का प्रयोग।

प्राचीन भारतीय योगियों ने अद्‌भुत खोज की है। आज आयुर्विज्ञान (मेडिकल सांइस) इतना विकसित होने पर भी वह खोज नहीं कर पाया है। हमारे नाड़ी-संस्थान में दो प्रकार के 'सिस्टम' हैं। एक है वोलेंटरी और दूसरा है ऑटोनर्वस—स्वतःचालित और इच्छाचालित। इच्छा-चालित नाड़ी-संस्थान के द्वारा शक्ति का व्यय होता है। और स्वतःचालित नाड़ी-संस्थान के द्वारा भी शक्ति का बहुत व्यय होता है। खोज यह हुई कि स्वतःचालित नाड़ी-संस्थान पर हम नियंत्रण कर सकते हैं। श्वास को रोक सकते हैं, शरीर के तापमान को कम कर सकते हैं, जो चयापचय की क्रिया है उसको भी हम धीमा कर सकते हैं। हृदय की धड़कन को रोक सकते हैं, कम कर सकते हैं। जितने स्वतःचालित कार्य हैं, उन पर नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं। उन पर नियंत्रण करने का अर्थ होता है—शक्ति के व्यय को रोक देना।

आज ऐसी खोज हो रही है कि आदमी को शीतीकरण की प्रक्रिया से जमा दिया जाएगा। शीतीकरण की प्रक्रिया से आदमी बर्फ के जैसे जमा दिया जाएगा। कोल्डस्टोरेज में जैसे पांच वर्ष, दस वर्ष, पचास वर्ष, जितना चाहे फल पड़े रहते हैं, वैसे ही आदमी पड़ा रहेगा। और जब चाहेंगे कि

कविताएं, कहानियां लिखना चलता ही था। फिर हिंदी में कविताएं लिखनी शुरू कीं। निबंध भी लिखे। तब हिंदी जगत् के साहित्यकारों से संपर्क बढ़ने लगा। जैनेंद्रकुमार, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियारामशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर', कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदि साहित्यकारों से संपर्क हुआ। केवल संपर्क ही नहीं हुआ, आत्मीय भाव भी बना। फिर भी मन में एक असंतोष उभरता रहता था। वह बार-बार अंतःकरण को कचोटता रहता था। क्या विचार ही अंतिम यात्रा है? क्या साहित्य-साधना ही अंतिम यात्रा है? क्या इससे आगे और कुछ नहीं है?

आधुनिक युग का व्यक्ति होने के लिए आधुनिक ढंग से सोचना और आधुनिक भाव, भाषा और शैली में लिखना चाहिए। पर आधुनिकता पूर्ण सत्य तो नहीं है। वह एक सामयिक सत्य है। पूर्ण सत्य त्रैकालिक होता है, केवल सामयिक नहीं होता।

एक बार हम लोग प्रभुदयाल डाबड़ीवाला के घर

पुनर्जीवित करना है—वह फिर सक्रिय हो उठेगा। इस तरह उसकी आयु 50 वर्ष की और बढ़ गई। यानी उसकी जीवनशक्ति को पचास वर्ष जीवित रख दिया। शक्ति-व्यय को बचा लिया, रोक दिया।

यही तो प्रक्रिया थी कि स्वतःचालित नाड़ी-संस्थान को बंद कर दिया और जीवनी शक्ति का उतना काल हमने बढ़ा लिया। हमारे प्राचीन योगियों (वैज्ञानिकों) की यह बहुत महत्त्वपूर्ण खोज थी, पर हमने उसको भुला दिया। हम आज न श्वास-संयम जानते हैं, न नाड़ी पर नियंत्रण जानते हैं, न तापमान को घटाना जानते हैं, न चयापचय की क्रिया को कम करना जानते हैं। इन सारी क्रियाओं को निरर्थक समझ कर हमने भुला दिया है। अतीत में लौटने की बात सर्वथा व्यर्थ नहीं है। हम अतीत में लौटें और ध्यान दें कि किन उपायों के द्वारा हमने शक्ति का विकास किया था।

वर्तमान में जीना बहुत अच्छा है। वर्तमान का बोध बहुत आवश्यक है, किंतु केवल वर्तमान से ही काम नहीं चलता। आदमी जितना वर्तमान में जीएगा, उसकी शक्ति उतनी ही बढ़ेगी। किंतु केवल वर्तमान से ही तो हमारा काम नहीं चल सकता। अतीत में भी कभी लौटना होता है और भविष्य में भी जाना होता है। हमारा जीवन स्मृति, चिंतन और कल्पना—इन तीनों के आधार पर चलता है। कोरी स्मृति, कोरा चिंतन और कोरी कल्पना काम नहीं देती। स्मृति अतीत में लौटने की प्रक्रिया है। कल्पना भविष्य में जीने की प्रक्रिया है और चिंतन वर्तमान में जीने की प्रक्रिया है। इन तीनों का समन्वय चाहिए। ❖

पर ठहरे हुए थे। सूर्यास्त होने को था। डॉ. राममनोहर लोहिया वहां आए। कुछ समय हम लोग बात करते रहे। सूर्यास्त हो गया। डॉ. लोहिया ने उठते हुए कहा—चलें, हम भोजन करें। मैंने कहा—सूर्यास्त हो गया। अब भोजन नहीं कर सकते। वे बोले—'आप आधुनिक मुनि हैं, फिर यह कैसा प्रतिबंध?' मैंने इसका प्रतिवाद किया। मैं आधुनिकता में विश्वास नहीं करता, शाश्वत में विश्वास आधुनिकता में होगा ही, पर केवल आधुनिकता में नहीं होगा। मैं मुनित्व को प्रत्यक्ष ज्ञान की साधना मानता हूं। वह त्रैकालिक के बोध से ही संभव हो सकती है। केवल आधुनिकता हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती।

आचार्यश्री तुलसी के अत्यंत निकट साहचर्य में मैं रहा। राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ता, साहित्यकार, पत्रकार आदि सभी प्रकार के लोगों से विचार-विनियम करने का अवसर मिला। धर्म में अति श्रद्धा रखने वाले और धर्म को अस्वीकार करने वाले—दोनों प्रकार के लोगों से संपर्क होता रहा, पर मैंने उनमें से बहुत लोगों को तनाव की मनःस्थिति में पाया। मुझे लगा, तनाव वर्तमान की सबसे बड़ी समस्या है। जो गलत निर्णय होते हैं, वे सब तनाव की मनःस्थिति में होते हैं। इसलिए वर्तमान में मानव जाति को तनाव-मुक्ति का मार्ग बतलाना उसकी सबसे बड़ी सेवा है। मैंने इसे अपना जीवन-व्रत बनाया।

मुनि अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए जीवन की यात्रा शुरू करता है, किंतु अपनी समस्या केवल अपनी ही नहीं होती, वह दूसरों की भी होती है। दूसरों की समस्या केवल दूसरों की ही नहीं होती, वह अपनी भी होती है। अपने और दूसरों के बीच में कोई ऐसा लोहावरण नहीं है, जिससे एक की समस्या दूसरे में संक्रांत न हो। इसलिए समस्या के समाधान का मार्ग सबके लिए सुलभ होता है—इसे मैं श्रेय मानता हूं। मेरी दृष्टि में यह जीवन का सबसे बड़ा सृजनात्मक प्रश्न है। शायद रोटी की उपलब्धि से भी इसका अधिक मूल्य है। ❖

'दीन' (धर्म) के बारे में कोई जबरदस्ती नहीं। सही बात नासमझी की बात से अलग हो कर बिल्कुल सामने आ गई है। अब जो 'तागूत' (निर्दयी) को ठुकरा दे और अल्लाह पर 'ईमान' लाए उस ने मजबूत सहारा थाम लिया जो कभी टूटने का नहीं। और अल्लाह सुनने और जानने वाला है।

—कुरआन

जैन गणित की सूक्ष्मता को जाने बिना हम जैन तत्त्वज्ञान के रहस्यों को पूरा नहीं समझ सकेंगे। विज्ञान में भी इस दृष्टि से जो विकास हुआ है, वह सचमुच आश्चर्यजनक है। गणित और विज्ञान की व्याख्या से 'पर्यव' की सूक्ष्मता काफी स्पष्ट हो गई। मेरे मन में बार-बार यह जिज्ञासा बनी रहती थी कि अनंत पर्यवों को कैसे समझें? षट्स्थान वर्तित्व—अनंत, असंख्यात एवं संख्यात गुण एवं भाग, हानि-वृद्धि कैसे होती है? अब तक यह सारा विषय इतना स्पष्ट नहीं था। इस वैज्ञानिक अवधारणा से सहज अनुमान लगता है कि जब एक सैकेंड के इतने महाशंखवें भाग में ग्यारह बार परिवर्तन का पता चलता है, तो फिर पर्यवों के क्रम में और भी सूक्ष्म परिणमन हो सकते हैं। अब यह प्रश्न कि स्नातक, निर्ग्रंथ के स्थान एक पर पर्यव अनंत कैसे—स्पष्ट हो गया।

❑ वदे-वदे जायते तत्त्वबोधः

❑ *मुनि महेंद्रकुमार*

'पुलाक निर्ग्रंथ (नियंठ) में संयम-स्थान असंख्यात हैं और चारित्र-पर्यव (पज्जव) अनंत हैं। इस भिन्नता का क्या कारण है?'—गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी ने एक बार 'स्वाध्याय-कक्ष' में उपस्थित साधु-साध्वियों को संबोधित करते हुए यह 'चालना' की। प्रसंग था—भगवती सूत्र के 25वें शतक के अंतर्गत छह नियंठों की विवेचना का। यह प्रसंग विक्रम संवत् 2053 के आश्विन शुक्ल पक्ष में 'नवाह्निक अनुष्ठान' के दौरान प्रतिदिन मध्याह्न के समय 'स्वाध्याय-कक्ष' में होने वाली चर्चा-परिचर्चा के दौरान बना।

उपस्थित साधु-साध्वियों में से कुछेक ने अपने-अपने ढंग से समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। पर सभी के मन की प्रश्नाकुलता को समाहित करने में ये प्रयत्न पूरी तरह सफल नहीं हो पाए। पूज्यपादश्री तुलसी ने समाधान की भाषा में फरमाया—'इसे हम जलेबी के एक सहज उदाहरण से समझ सकते हैं। जलेबी मिठाई की एक संज्ञा है। यह एक संयम-स्थान है। पर इसमें जो रस है, उसके पर्यव अनंत हो सकते हैं।'

—महाप्रयाण—
आषाढ़ कृष्णा तृतीया
(5 जून, 2004)
पावन-स्मरण

गुरुदेव द्वारा सोदाहरण व्याख्या से कठिन तात्त्विक-बोल भी काफी सरल हो गया। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उसे और अधिक स्पष्ट किया। इस परिचर्चा में सहभागी रहे सभी जनों को काफी संतोष मिला।

अगले ही क्षण गुरुदेवश्री तुलसी ने फरमाया—'इस प्रकार के बोलों को समझने के लिए विज्ञान और गणित का ज्ञान उपयोगी हो सकता है।' उन्होंने इस लेखक को याद किया। (किसी आवश्यक कारण से मैं उस समय स्वाध्याय-कक्ष में उपस्थित नहीं था) सूचना मिलते ही मैं पूज्यपाद के सम्मुख उपस्थित हुआ। गुरुदेव ने फरमाया—'विज्ञान के आधार पर संयम-स्थान और पर्यव के अंतर को स्पष्ट करो।' चूंकि उस दिन चर्चा का समय संपन्न हो गया था, अतः दूसरे दिन मुझे अपना मत प्रस्तुत करने का निर्देश मिला।

दूसरे दिन स्वाध्याय-कक्ष में पुनः सभी संभागी उपस्थित थे। गुरुदेवश्री तुलसी की अनुज्ञा से मैंने अपनी बात प्रारंभ की—'पहली बात तो यह है कि पर्यवों का संबंध मूलतः 'स्वभाव पर्याय' या 'अगुरुलघुत्व' के साथ है। 'अर्थ-पर्याय' की स्वाभाविक प्रक्रिया के संदर्भ में उसकी व्याख्या संभव है। व्यवहार में हम हर परिणमन को व्यंजन-पर्याय के रूप में देख सकते हैं, इसलिए हमारी दृष्टि स्थूलग्राही है। सूक्ष्मग्राही दृष्टि के अभाव में अर्थ-पर्याय को हमारा ज्ञान सीधे नहीं पकड़ सकता। फिर भी समझने के लिए हम उदाहरण ले सकते हैं।

'संयम-स्थान और पर्यव की भिन्नता को व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक—दोनों दृष्टियों से समझने की कोशिश करें। 'स्थान' को एक श्रेणी या 'केटेगरी' के रूप में ग्रहण करें।

उदाहरण रूप में सरकारी अधिकारी को सामने रख सकते हैं। अधिकारी के रूप में विभिन्न 'स्थान' बन सकते हैं। एक ही श्रेणी (केटेगरी) के अधिकारियों का एक स्थान मान कर विभिन्न स्थानों की बात स्पष्ट होती है। 'केटेगरी' की विविधता उनके 'स्थानों' की विविधता के लिए आधार बनती है। प्रत्येक 'केटेगरी' में भी 'तारतम्य' की दृष्टि से विविधता या भेद किए जा सकते हैं। अनुभव, कुशलता, वेतन, कार्यकाल आदि विभिन्न 'पर्यवों' के तारतम्य के आधार पर अनेकानेक 'पर्यव' बन जाते हैं। 'पर्यवों' में तारतम्य की वृद्धि-हानि होती रहती है। इस प्रकार तुलनात्मक रूप में 'संयम-स्थान' और 'पर्यव' के भेद को समझा जा सकता है।

'वैज्ञानिक दृष्टि से इस भेद को समझने के लिए तथा पर्यवों के तारतम्य को हृदयंगम करने के लिए हम अणु के विषय में वैज्ञानिकों की नई अवधारणाओं को लें। अणु के भीतर केंद्र में 'प्रोटोन' और 'न्यूट्रोन' नामक कण तथा परिधि पर घूमने वाले 'इलेक्ट्रोन' होते हैं। ये सारे ही कण निरंतर अपने-आप में परिणत होते रहते हैं। बाह्य निमित्तों को पाकर होने वाले परिवर्तन के सिवा भी उनमें कुछ स्वाभाविक परिणमन होता रहता है—जिसे वैज्ञानिक लोग 'सेल्फ-इंटरेक्शन' यानी स्व-अंतःक्रिया कहते हैं। इस कार्य के परिणामस्वरूप प्रत्येक 'प्रोटोन' या 'न्यूट्रोन', जो 'नाभिक' कण कहलाते हैं, निरंतर स्व-अंतःक्रिया करते रहते हैं। इस अंतःक्रिया के दौरान वे ग्यारह अन्य रूपों या रूपांतरणों से गुजर कर पुनः अपने रूप में आ जाते हैं। सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि इस सारे 'नाटक' में उन्हें बहुत कम समय लगता है। इस समय को वैज्ञानिक शब्दावली में 'कण-सेकंड' कहा जाता है तथा ऐसा एक 'कण-सेकंड' एक 'सेकंड' का हजार महाशंखवां भाग है। 'महाशंख' की संख्या 1 पर 20 शून्य लगाने से प्राप्त होती है। हजार महाशंख 1 पर 23 शून्य लगाने से प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि कितने कम समय में 'प्रोटोन' या 'न्यूट्रोन' ग्यारह बार परिणमन कर पुनः स्वरूप में आ जाता है। इसे 'अर्थ-पर्याय' के संदर्भ में देखा जाए तो इस त्वरित परिणमन के लिए कोई आश्चर्य नहीं होगा। 'अर्थ-पर्याय' की अवधि केवल एक 'समय' की है, जो 'आवलिका' का असंख्यातवां हिस्सा है। द्रव्यमात्र का सूक्ष्म परिणमन समय-समय पर होता है। 'अगुरुलघु' गुण के कारण 'षड्गुण हानि-वृद्धि' की प्रक्रिया से गुजर कर द्रव्य अपने स्वरूप को बरकरार बनाए रखता है। इसी तथ्य को प्रसिद्ध विज्ञानविद् काप्रा (ताओ आफ फिजिक्स के लेखक) के शब्दों में देखें—'The dance of creation and destruction is the basis of the very existence of matter.' अर्थात् उत्पाद और व्यय का यह नृत्य पदार्थ के मूल अस्तित्व का आधार है।

'इस उदाहरण से अर्थपर्याय की सूक्ष्म परिणमन-शीलता तथा 'अगुरुलघुत्व' के अंतर्गत 'षड्गुण हानि-वृद्धि' के तारतम्य के आधार पर जीव के चारित्र-पर्यवों की अनंतता तथा उसमें षड्गुण-हानि-वृद्धि के क्रम की हम अवधारणा कर सकते हैं।'

इस परिचर्चा में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने समग्र विषय के उपसंहार में कहा—सिद्धों में भी आत्म-गुणों के पर्यव अनंत हैं तथा निरंतर षड्गुण हानि-वृद्धि का क्रम चल रहा है। यह द्रव्यमात्र के स्वभाव के कारण अनिवार्य नियम है, अन्यथा द्रव्य अपने अस्तित्व को बचा नहीं सकता। अर्थ-पर्याय पूर्णतः स्वसापेक्ष है; उसमें बाह्य निमित्तों की अपेक्षा नहीं है। हमें समझना होगा—जैन दर्शन का तत्त्व-विवेचन किस गहराई तक पहुंचा है।

गुरुदेवश्री तुलसी ने अपना मत इस प्रकार रखा— 'जैन गणित की सूक्ष्मता को जाने बिना हम जैन तत्त्वज्ञान के रहस्यों को पूरा नहीं समझ सकेंगे। विज्ञान में भी इस दृष्टि से जो विकास हुआ है, वह सचमुच आश्चर्यजनक है। गणित और विज्ञान की व्याख्या से 'पर्यव' की सूक्ष्मता काफी स्पष्ट हो गई। मेरे मन में बार-बार यह जिज्ञासा बनी रहती थी कि अनंत पर्यवों को कैसे समझें? षट्स्थान वर्तित्व—अनंत, असंख्यात एवं संख्यात गुण एवं भाग, हानि-वृद्धि कैसे होती है? अब तक यह सारा विषय इतना स्पष्ट नहीं था। इस वैज्ञानिक अवधारणा से सहज अनुमान लगता है कि जब एक सैकेंड के इतने महाशंखवें भाग में ग्यारह बार परिवर्तन का पता चलता है, तो फिर पर्यवों के क्रम में और भी सूक्ष्म परिणमन हो सकते हैं। अब यह प्रश्न कि स्नातक, निर्ग्रंथ के स्थान एक पर पर्यव अनंत कैसे—स्पष्ट हो गया। जटिल विषय की सरल व्याख्या मुनि महेंद्रजी ने कर दी।'

'अपेक्षा है, साधु-साध्वियां, समण-समणियां गणित और विज्ञान के अध्ययन की दिशा में भी आगे बढ़े। संभव है, जैन विश्वभारती में शीघ्र ही जैन विज्ञान, जैन गणित आदि विषयों पर गहरे अनुसंधान कार्य को प्रारंभ करें। हमारा विश्वविद्यालय जैन विद्याओं एवं प्राच्य विद्याओं के गहन शोध का केंद्र बनेगा, तभी इसकी सार्थकता है।'

तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत तत्त्व की गहनता सचमुच गहरे अध्ययन के लिए प्रेरणादाई बिंदु है। ❖

वीणा ने मेरे हाथ से मोटरकार लेते हुए कहा, 'लो बेटा, देखो, अंकल तुम्हारे लिए क्या लाए हैं। इस पर एक बार हाथ फेर लो, फिर मुझे दे देना। खिलौना तुम्हारा ही है, तुम्हारे ही सिरहाने रख दूंगी। सुबह उठकर ले लेना।'

पप्पू की आंखें खिलौने पर लगी थीं, पर बाप के डर से हाथ आगे बढ़ा रहा था।

वीणा ने खिलौना उसके हाथ में दे दिया।

पप्पू उठकर बैठ गया। खिलौने को हाथ में लेकर उसने हम दोनों की ओर बारी-बारी से देखा और फिर खिलौने को छाती से चिपका लिया। उसकी उनींदी आंखों में अभी भी खुमारी भरी थी।

'नहीं पप्पू, एक बार कह जो दिया। तुम केवल एक बार इस पर हाथ फेर सकते हो। इससे ज्यादा नहीं।'

कहानी

❑ खिलौने

❑ *भीष्म साहनी*

'यार, मुझे बीवी का हाथ बटाना मंजूर है, लेकिन यह हाथ बटाना नहीं है। इसे मैं हाथ बटाना नहीं कहता। जिसे मैं हाथ बटाना कहता हूं, वह मेरी बीवी को मंजूर नहीं।'

उस वक्त वह रसोईघर में खड़ा प्याज छील रहा था और उसकी पत्नी उसी की बगल में खड़ी दाल में करछुल चला रही थी।

'हाथ बटाने का मतलब है किचन का काम बांट लिया जाए, कुछ काम वह करे, कुछ काम मैं करूं, और चुपचाप दोनों अपना-अपना काम करते रहें।'

'भाभी क्या कहती हैं?' मैंने पूछा।

'वह चाहती है कि किचन में वह हुक्म चलाए और मैं हुक्म बजा लाऊं। वह कहे, आलू छील दो तो मैं आलू छीलने लगूं, वह कहे चिमटा पकड़ाओ और मैं भागकर चिमटा उठा लाऊं। यह मुझे मंजूर नहीं।'

इस पर उसकी पत्नी कपड़े से हाथ पोंछती हुई हंसकर बोली, 'काम तो सारा मुझे ही करना पड़ता है जी, बांट दो तो भी और नहीं बांट दो तो भी। यह भुलक्कड़ आदमी हैं, करते कम हैं, बिगाड़ते ज्यादा हैं—जो कहो, वही कर दें तो बड़ी बात है।

'लो सुनो, देख लिया? यह हमें हाथ बटाने का इनाम मिल रहा है।'

इस पर वह हंसती हुई पति को ढाढ़स बंधाने लगी।

'नाराज हो गए? बात-बात पर तो यह मुंह फुला लेते हैं।' फिर पुचकारती हुई-सी बोली, 'नहीं जी, इनकी बड़ी मदद है, यह न हों तो मैं कुछ भी नहीं कर सकूं।'

'बस, यही मुझे मंजूर नहीं,' दिलीप बोला, 'सारा काम भी करो और फिर भी यह कहे कि मैं केवल मदद कर रहा हूं।'

'घर चलाती तो स्त्रियां ही हैं। तुम भले कितना काम करो, होगी तो आखिर मदद ही।'

मैंने चुटकी ली, और दिलीप के कंधे पर हाथ रखकर बोला, 'तुम्हारी पोजीशन यही रहेगी मिस्टर, प्याज छीलना रसोई बनाना नहीं है, और तुम सदा प्याज ही छीलते रहोगे।'

घर में लगभग आधे घंटे से बिजली बंद थी और एक मोमबत्ती की टिमटिमाती रोशनी में वे दोनों रसोई बना रहे थे। मेरी पत्नी और मैं दहलीज के बाहर खड़े उनके साथ हंस-बतिया रहे थे।

'तुम जाओ जी, बाहर जाकर बैठो, इन्हें भी बैठाओ।' दिलीप की पत्नी उसके हाथ से चाकू लेते हुए बोली, 'मैं सब देख लूंगी। अब थोड़ा-सा ही तो काम रह गया है।'

'हमारे बीच इस बात की भी होड़ लगी रहती है कि काम का क्रेडिट किसे मिलेगा और किसे नहीं मिलेगा। अब अगर मैं प्याज छीलना छोड़ दूं, तो यह सारे काम का क्रेडिट खुद ले जाएगी। कहेगी, सारा खाना तो मैंने बनाया।'

'हमारे यहां भी यही हाल है,' मैंने जोड़ा, 'औरतें रसोईघर में अपनी हुकूमत बनाए रखना चाहती हैं। पति सारा काम करता भी रहे, फिर भी कहेंगी—थोड़ी-बहुत मदद करता है।'

इस पर बगल में खड़ी मेरी पत्नी झट-से बोल उठी, 'तुम करते ही क्या हो? घर में सारा वक्त अखबार पढ़ते रहते हो। यहां भाई साहब मदद तो करते हैं।'

'फिर कहिए, फिर कहिए भाभीजी,' दिलीप चहक उठा, 'मैं तो चपातियां भी सेंकने लगा हूं। कहो तो आज बनाकर खिला दूं?'

'बहुत डींग नहीं मारो जी,' दिलीप की पत्नी बोली, 'आटा गूंध लो, यह भी बड़ी बात है। चपाती बनाते हैं, लकड़ी की लकड़ी। दोनों तरफ से जली हुई।'

मुझे लगा दिलीप की पत्नी सचमुच खीझी हुई थी। दोनों हंसी-हंसी में ही थोड़ा तुनकने लगे थे। मुझे डर था, हमारे सामने उनके बीच झगड़ा न होने लगे। मियां-बीवी के बीच झगड़ा होते देर ही क्या लगती है! ऊपर से गर्मी का दिन था और बड़ी देर से बिजली बंद थी। आग के सामने खड़ी वीणा की बुरी हालत हो रही थी। मकान-मालिक ने आधी ईंट की दीवार खींचकर खुली छत के एक कोने में रसोईघर बना दिया था और ऊपर टीन की छत डाल दी थी। दिन को भी झुलसो, रात को भी झुलसो।

'चलो, बाहर बैठो,' स्थिति को बिगड़ता देख मैं दिलीप को बाहर ले आया।

'आप दोनों बाहर बैठो, मैं वीणा की मदद करूंगी,' मेरी पत्नी ने कहा और रसोईघर के अंदर घुस गई।

दिलीप और मैं बाहर आ गए। रसोईघर के बाहर खुली छत पर आकर बड़ी राहत मिली। तारों के नीचे हल्की-हल्की हवा बह रही थी। यों उसे छत का नाम देना छतों का अपमान करना था। जिस ऊंची दीवार के साथ सटकर बने तथाकथित रसोईघर में से हम निकलकर आए थे, उसी भीमकाय दीवार के सामने छत के दूसरे सिरे पर हम खाटों पर बैठ गए थे। यहां पर भी पीछे साथ वाले घर की दीवार थी, जो साढ़े-चार मंजिल था। इस तरह दिलीप के घर की छत दो ऊंची दीवारों के बीच फंसी थी। लेकिन फिर भी यहां कुछ-कुछ खुलेपन का भास जरूर होता था।

'यहां तो खूब मजा है।' मैंने कहा, 'कम-से-कम हवा तो बह रही है। और ऊपर तारे जगमगा रहे हैं।'

इस पर दिलीप हंस दिया, 'इस वक्त बिजली बंद है, इसीलिए तुम्हें अच्छा लग रहा है। बिजली आ जाने दो, फिर देखना।'

'फिर क्या होगा?'

'फिर होगा यह कि सामने सड़क की बिजलियां भी जग जाएंगी और सड़क के पीछे ऊंचाई पर सिनेमाघर है, उसकी चौंधियाती रोशनी आंखों में पड़ने लगेगी। और वह रोशनी रातभर आंखों में पड़ती रहती है। अगर इस ऊंची दीवार की तरफ मुंह करके लेटो तो डर लगता है। वीणा तो रातभर करवटें बदलती रहती है।' दिलीप अपना पसीना पोंछते हुए बोला, 'माफ करना यार, तुम पहुंच गए और हमारे यहां अभी खाना भी तैयार नहीं हुआ।' फिर अपनी सफाई देते हुए बोला, 'दिल्ली में रहने का एक टंटा थोड़े ही है। एक छोटी-सी चूक हो जाए तो सब काम चौपट हो जाता है। वरना कभी ऐसा भी हुआ है कि मेहमान घर पर पहुंच जाएं और अभी हम प्याज ही छील रहे हों।'

'हम तुम्हारे मेहमान तो नहीं हैं। तुम चिंता क्यों करते हो? बस, साढ़े-दस की बस पकड़वा दो, हमें और कुछ नहीं चाहिए। अगर वह बस निकल गई तो जरूर मुसीबत आएगी। लेकिन अभी बहुत वक्त है। चिंता की कोई बात नहीं।'

'एक छोटी-सी चूक नहीं हो जाती तो सब काम ऐन समय पर हो जाता। पर क्या कहूं, मैं फंस गया।'

'क्या हुआ?'

'आज मैं दफ्तर में से निकला तो पूरे साढ़े-चार बज रहे थे। रोज मेरा यही नियम होता है। साढ़े-चार बजे दफ्तर से निकलता हूं, चार-चालीस की मुझे बस मिल जाती है। वहीं, दफ्तर के नजदीक से ही चलती है। बस पकड़ने में देरी हो जाए तो सब बंटाधार हो जाता है और मैं हांफता हुआ घर पहुंचता हूं। आज वही हुआ। दफ्तर के दरवाजे में से निकला तो तिलकराज मिल गया। ऐन दफ्तर के सामने से जा रहा था। और मुझ से नहीं रहा गया। मैं उसे आवाज दे बैठा। अब यह तो नहीं हो सकता कि दोस्त सामने से जा रहा हो और मैं मुंह फेर लूं। पहले ही यहां किसी के घर आना-जाना नहीं हो पाता। मुझे किसी ने कहा था कि तिलकराज बीमार रह चुका है। मैंने सोचा, चलते-चलते ही बीमार-पुर्सी भी हो जाएगी और मिलने का गिला भी खत्म

हो जाएगा। पर ज्यों ही उसे बुलाया कि मेरा माथा ठनका, मन ने कहा—भूल कर बैठे हो। आज का दिन किसी से मिलने का दिन नहीं है। घर पर मेहमान आ रहे हैं। जल्दी-से-जल्दी घर पहुंचा। पर अब क्या हो सकता था। दफ्तर से निकलो तो कोई दोस्त-यार सामने नहीं होना चाहिए। सीधा, आंखें बंद करके बस-स्टाप की ओर बढ़ जाना चाहिए। न दाएं देखना चाहिए, न बाएं। पर मैं यह सब जानते-समझते उसे आवाज दे बैठा था।

'फिर भी, उस हड़बड़ी में मैंने सोचा, तिलकराज से हाथ मिलाऊंगा, माफी मांगूंगा और आगे बढ़ जाऊंगा। पर उस पट्ठे ने मिलते ही छाती से लगा लिया और फूट-फूटकर रोने लगा। वह पहले ही जैसे भरा बैठा था। उसके छाती से लगाने की देर थी कि मेरा भी दिल भर आया। मैंने मन में कहा, ऐसी की तैसी बस की, नहीं हुआ तो स्कूटर कर लूंगा। वर्षों के बाद तिलकराज मिल रहा है। इसे यहां छोड़ दूं और बस पर जा चढ़ूं! तिलकराज तो जैसे तरसा बैठा था। पता चला कि इस बीच उसकी बीवी चल बसी थी और इसका मुझे पता ही नहीं चला था। अब मैं क्या कहूं? मैं तिलकराज का मुंह देख रहा था और वह मेरे सामने खड़ा रोए जा रहा था, और उधर बस निकली जा रही थी। यहां वर्षों बीत जाते हैं, किसी से मेल-मुलाकात नहीं होती, और जब मिलते हैं तो जिंदगी एक और करवट बदल चुकी होती है। पिछली बार तिलकराज मिला था तो उसके घर में दूसरी बेटी हुई थी, अबकी मिला तो बीवी को मरे चार महीने बीत चुके थे। सच पूछो तो अब तो मैं किसी परिचित से मिलने से भी घबराता हूं। आंख चुराकर निकल जाना चाहता हूं। लगता है, मिलूंगा तो एक और फर्ज का बोझ सिर पर चढ़ जाएगा और मन को कचोटने लगेगा। उसके सामने खड़े रहते भी मेरे मन में एक बार झंझोड़ता-सा विचार आया कि अभी भी वक्त है, निकल चलो, बस पकड़ लोगे।...'

'ऐसी भी क्या मारामारी थी यार,' मैंने कहा, 'हम घर के आदमी ही तो हैं। देर हो गई तो क्या हुआ?'

'मैं तुम्हारा कहां सोच रहा था यार, मैं तो पप्पू का सोच रहा था। पप्पू स्कूल से लौटकर सड़क पर डोलता रहता है। वीणा को तो घर पहुंचते-पहुंचते छह बज जाते हैं।'

'फिर?'

'फिर क्या? मेरे मुंह से निकल ही गया। मैंने कहा, जल्दी ही हाजिर होऊंगा, तिलकराज, मुझे कुछ भी मालूम नहीं था...।'

'तुम जा रहे हो?' उसने जैसे सकते में आते हुए कहा। उसे उम्मीद नहीं थी कि उसके दुख में मैं इतनी रूखाई से पेश आऊंगा। बस, मैं ठिस हो गया और उसके पास खड़ा रहा और तभी ऐन मेरे सामने से बस निकल गई।'

'तुम बेकार की चिंता करते रहते हो। देर-सवेर हो ही जाती है।...पप्पू कहां है?'

कुछ बिजली बंद होने के कारण और कुछ दिलीप की बातों को सुनते हुए मैं पप्पू को भूल ही गया था। हम लोग बच्चे के लिए एक खिलौना खरीदकर लाए थे और चाहते थे उसे दे दें। लेकिन बच्चे को घर में न देखकर हम खिलौने को भी भूल गए थे।

'हमसायों के घर में है। हमें देर हो जाए तो वहां चला जाता है। अभी खाना तैयार हो जाए तो उसे बुला लाऊंगा।'

रसोईघर में से दाल छौंकने की आवाज आई। साथ ही, दिलीप की पत्नी वीणा, किचन के दरवाजे में से ही खड़ी-खड़ी बोली, 'मैं सोचती हूं जी, तुम तंदूर पर से ही रोटियां लगवा लाओ। देर बहुत हो रही है। घर पर रोटियां सेंकने में और देर हो जाएगी।'

थोड़ी देर बाद दोनों स्त्रियां रसोईघर में से बतियाती हुई निकलीं। वीणा कह रही थी : 'आज दाल छौंकी है, यों तो मैं अलग से छौंकती भी नहीं। इतना टंटा कौन करे। मैं तो दाल चूल्हे पर चढ़ाती हूं तो साथ ही प्याज भी कुतरकर डाल देती हूं और अदरक, टमाटर, जो-कुछ डालना हो, सभी-कुछ उसी वक्त एक साथ डाल देती हूं। अब कौन अलग से छौंकने बैठे! इतना वक्त किसके पास है!'

औरतें चहक सकती हैं। मर्द लोग सारा वक्त झींकते-झुंझलाते रहते हैं। राजनीति की बातें करेंगे, सियासतदानों को बुरा-भला कहेंगे, उनकी नजरों में सभी-कुछ गर्त में जा रहा होता है। स्त्रियां छोटी-छोटी चीजों में से भी सुख के कण बीन लेती हैं। रसोई की बातें छोड़ेंगी तो बच्चों की बातें ले बैठेंगी। बच्चों की छोड़ेंगी तो साड़ियों की चर्चा शुरू हो जाएगी। अकेली साड़ियों की ही चर्चा घंटों तक चल सकती है और फिर निंदा-प्रशंसा और किस्से और गप-शप, औरतें खुश रहना जानती हैं।

बाहर आई तो वीणा अपने पति की ओर देखकर बोली, 'हाय जी, आप तो पप्पू को भूल ही गए। उसे लाओगे नहीं?'

'भूलूंगा क्यों? मैंने सोचा, तुम रसोई कर लो तो उसे ले आऊंगा?'

'देर हो गई तो वह सो नहीं जाएगा?' वीणा क्षुब्ध होकर बोली, 'दिन-भर का भूखा बैठा है। यों भी हमसायों के घर अपने बच्चे को रोज-रोज कौन छोड़ता है?'

'उनके घर बैठकर टेलीविजन ही देखता है और क्या करता है। चुप-चाप बैठा होगा। तुमने उसे ऐसा सिखा रखा है कि कोई लाख बार भी कुछ खाने को कहे तो नहीं खाता। पानी तक तो पीता नहीं।'

दिलीप उठ खड़ा हुआ। 'लाओ, कटोरा दे दो, रोटियां भी लेता आऊंगा और पप्पू को भी ले आऊंगा।'

जब दिलीप सीढ़ियों की ओर जाने लगा तो वीणा बोली, 'अगर सो गया हो तो उसे जगाना नहीं। अब बहुत देर हो गई है। मैं सोए-सोए उसे थोड़ा-सा दूध पिला दूंगी। कटोरी-भर दूध घर में रखा है।'

दिलीप सीढ़ियां उतर गया तो वीणा सुनाने लगी : 'एक बार इसी तरह हम लोग घर देर से पहुंचे। स्कूल की बस जहां पप्पू को उतारती है, उधर पास ही में एक दुकान है, पेरिस हाउस। मैंने पप्पू को समझा रखा है कि अगर पापा को देर हो जाए तो दुकान के चबूतरे पर बैठ जाया करे। मजाल है जो एक इंच भी इधर-से-उधर हो जाए। उस रोज हम चार घंटे देर से पहुंचे। साये उतर आए थे और बत्तियां जल चुकी थीं। यह दिल में घबराए कि पप्पू न जाने कहां होगा। पर मैं इनसे कहूं, जी, मैं अपने बच्चे को जानती हूं, वह कहीं नहीं जाएगा। पप्पू सचमुच वहीं पर खड़ा था। बुत-का-बुत, भूखा-प्यासा, दुकान के चबूतरे पर खड़ा था। बल्कि हमसे दुकानदार कहने लगा, जी, आपका बेटा तो सच्चा योगी है। मैंने शीतल पेय की बोतल दी, इसने छुई तक नहीं। सारी दोपहर सामने बच्चे खेलते रहे, यह उन्हें चबूतरे पर खड़ा देखता रहा, उनके नजदीक तक नहीं गया।'

'भूख-प्यास लगे तो क्या करता है?' मैंने पूछा।

'मैं इसे सुबह साथ में सब-कुछ दे देती हूं। तीन सैंडविच और एक केला। पानी की बोतल अलग से दे देती हूं। दो सैंडविच स्कूल में खा लेता है, एक सैंडविच और केला रख छोड़ता है। वह स्कूल से लौटकर खाता है। पानी भी बोतल में रखा होता है। मैंने इसे सिखा दिया है कि बाहर से कुछ भी लेकर नहीं खाए और न ही किसी के साथ जाए।'

'सचमुच योगी है।'

'इतना तो सिखाना ही पड़ता है। इसके बिना चारा भी तो नहीं। आपकी बेटी तो अभी छोटी है, जब स्कूल जाने लगेगी तो आपको भी सब इंतजाम करने पड़ेंगे। लड़कियों का ध्यान करना तो और भी मुश्किल होता है।'

'कौन-सी क्लास में पढ़ता है पप्पू?'

'अभी क्या पढ़ता है। पहली जमात में ही तो है।'

'बड़ा समझदार है,' मैंने कहा, 'मेरे भाई का बेटा है, आफत है आफत। न मां की सुनता है, न बाप की।'

थोड़ी देर बाद पप्पू को कंधे के साथ लगाए दिलीप सीढ़ियां चढ़कर छत पर आया। दूसरे हाथ में रोटियों का डिब्बा उठाए हुए था। पप्पू गहरी नींद सो रहा था। उसे देखकर दिलीप की पत्नी आगे बढ़ आई और उसे बांहों में लेने के लिए दोनों हाथ बढ़ा दिए।

'श श श श!' दिलीप फुसफुसाकर बोला, 'सो गया है।'

'मुझे इसी बात का डर था।' वीणा सिर झटककर बोली।

'अभी-अभी सोया है।' दिलीप बच्चे को उठाए-उठाए ही धीमी आवाज में कहने लगा, 'वर्माजी कह रहे थे, सारा वक्त टेलीविजन पर आंखें लगाए बैठा रहा। घर के लोग खाना खाने के लिए उठ गए, लेकिन यह वहीं जमकर बैठा टेलीविजन देखता रहा।'

'हमसाये कभी सीधी बात कह जाएं तो मानूं,' दिलीप की पत्नी ने लपककर कहा, 'मैं नहीं चाहती यह वहां जाया करे, पर क्या करें। एक दिन जाता है तो दूसरे दिन वे जरूर कहते हैं, 'हम तो टेलीविजन नहीं देख रहे थे, तुम्हारा बेटा देख रहा था।'

मेरी पत्नी ने मुझे इशारा किया कि थैले में से खिलौना निकाल लाऊं। मैं संकोच में पड़ गया। इस समय खिलौना देना ठीक नहीं होगा। घर लौटते समय चुपचाप खिलौने को बच्चे के सिरहाने रख देंगे। इससे मां-बाप को भी पता चल जाएगा कि हम खिलौना लाए हैं और बच्चा भी सुबह उठकर उसे देख लेगा।

पर सहसा बच्चा जाग गया। दिलीप की पत्नी का ही दोष था। दिलीप उसे बिस्तर पर लिटा रहा था कि उसकी पत्नी से नहीं रहा गया और वह बच्चे के बाल सहलाने लगी। सिर पर हाथ रखने की देर थी कि बच्चे ने मां का हाथ पहचान लिया और आंखें खोल दीं।

'देखा? तुमने जगा दिया।' दिलीप फुसफुसाकर बोला, 'इसके साथ लाड़-प्यार करना हो तो छुट्टी के दिन

कर लिया करो। बाकी दिन इसे पड़ा रहने दिया करो।' फिर पप्पू को थपथपाते हुए बोला, 'सो जा, सो जा, पप्पू, देर हो गई है। कल सुबह स्कूल भी जाना है।' और दिलीप ने पत्नी को इशारा किया कि वह सामने से हट जाए और पीछे और गहरे अंधेरे में चली जाए।

पर उसी समय बिजली आ गई और सीढ़ियों वाले दरवाजे के ऊपर लगी बत्ती जलने लगी और बाहर सड़क की बत्तियां भी जल उठीं, जिससे सारी छत पर रोशनी फैल गई। कुछ बत्ती के कारण और कुछ मां के स्पर्श के कारण बच्चा जाग गया और आंखें खोल दीं।

'पप्पू!' दिलीप ने जोर से कहा, 'आंखें बंद कर।'

'अब जाग ही गया है तो जागने दो जी, दो कौर रोटी खा लेगा।'

'श श श श!' दिलीप ने तर्जनी मुंह पर रखते हुए फिर से कहा और बच्चे की करवट बदलकर उसका कंधा थपथपाने लगा।

पप्पू जाग गया था। लेकिन बाप के डर से आंखें बंद किए लेटा था। कुछ हमें देख पाने का कुतूहल, कुछ मां-बाप से मिलने की उत्सुकता, वह खाट पर पड़ा-पड़ा ही आंखें मिचमिचाने लगा। थोड़ी देर बाद अपने-आप ही बोला, 'पापा, मैं आंखें खोल दूं?'

'हाय, बेचारा।' मेरी पत्नी के मुंह से निकल गया।

'श श श श!' दिलीप ने फिर एक बार कहा। पर बच्चा जाग गया था। अब उसे थपथपाने में कोई तुक नहीं थी। दिलीप खीझ उठा।

'अब तुम्हीं इसे सुलाओ, मैं नहीं सुला सकता।'

'दिन-भर का भूखा है जी, अब जाग जो गया है तो थोड़ा खा लेगा।'

'तुम इसे बिगाड़ रही हो।'

'नहीं-नहीं, यह बिगड़ा कहां है। यह तो बड़ा प्यारा बच्चा है।'

इस पर मेरी पत्नी को जाने क्या सूझी, सबके सामने बोल दिया, 'दे दो न जी, वह खिलौना, जो हम पप्पू के लिए लाए हैं।'

खिलौने का नाम सुनते ही पप्पू ने फिर से आंखें खोल दीं।

'तुमने सब गुड़गोबर कर दिया यार,' दिलीप ने खीझकर कहा, 'अब यह ग्यारह बजे तक नहीं सोएगा।'

'कोई बात नहीं, एक दिन वक्त पर नहीं सोया तो कुछ नहीं होगा।' मैंने कहा।

'तुम इसकी नींद को नहीं जानते यार, सुबह इसकी आंख खुलती ही नहीं। इसकी मां सुबह छह बजे से इसे जगाना शुरू करती है, तो सात बजे जाकर यह कहीं जागता है। मुंह पर पानी के छींटे डालते हैं, तब कहीं उठता है।'

'कोई बात नहीं, कोई बात नहीं,' कहते हुए मैंने खिलौना थैले में से निकाल लिया। खिलौना क्या था, एक मोटरकार थी, जिसके साथ लंबी-सी तार लगी थी। तार का दूसरा सिरा हाथ में लेकर बटन दबाओ तो मोटर खड़ी हो जाती थी। फिर से दबाओ तो चलने लगती थी।

मोटरकार को देखकर पप्पू की आंखें फैल गईं।

वीणा ने मेरे हाथ से मोटरकार लेते हुए कहा, 'लो बेटा, देखो, अंकल तुम्हारे लिए क्या लाए हैं। इस पर एक बार हाथ फेर लो, फिर मुझे दे देना। खिलौना तुम्हारा ही है, तुम्हारे ही सिरहाने रख दूंगी। सुबह उठकर ले लेना।'

पप्पू की आंखें खिलौने पर लगी थीं, पर बाप के डर से हाथ आगे बढ़ा रहा था।

वीणा ने खिलौना उसके हाथ में दे दिया।

पप्पू उठकर बैठ गया। खिलौने को हाथ में लेकर उसने हम दोनों की ओर बारी-बारी से देखा और फिर खिलौने को छाती से चिपका लिया। उसकी उनींदी आंखों में अभी भी खुमारी भरी थी।

'नहीं पप्पू, एक बार कह जो दिया। तुम केवल एक बार इस पर हाथ फेर सकते हो। इससे ज्यादा नहीं।'

पर पप्पू ने उसे और भी ज्यादा जोर से भींच लिया।

'दे दो, बेटा, अब खिलौना मुझे लौटा दो। शाबाश बेटा, पप्पू बहुत अच्छा बेटा है।' दिलीप ने धीमी किंतु दृढ़ आवाज में कहा।

'इसे मैं अपने सिरहाने पर रख लूं, मां?' पप्पू ने शिथिल-सी आवाज में कहा।

'नहीं, पप्पू,' दिलीप ने डांटकर कहा, 'मैं तुम्हें अपने आप कल दे दूंगा। अब तुम लेट जाओ।'

पप्पू की आंखों में, जो क्षण-भर पहले खिलौने के अंग-अंग को सहला रही थीं, दूरी-सी आ गई, जैसे खिलौने की आकृति धुंधली पड़ने लगी हो। पप्पू के सारे शरीर में एक हूक-सी उठी और उसने खिलौने पर से हाथ हटा लिए।

हम लोग उसकी खाट पर से हट गए। वीणा दूध ले आई और कटोरी पप्पू के मुंह को लगा दी। दिलीप ने बत्ती बुझा दी। सड़क की ओर से आने वाली रोशनी हमारे लिए बहुत थी जिसमें हम बैठकर खाना खा सकते थे।

'खिलौने को पप्पू के सिरहाने रख देते तो क्या ठीक नहीं था?' मेरी पत्नी ने धीमे-से कहा, 'पप्पू इतमीनान से उस पर हाथ रखे-रखे सो जाता।'

'नहीं बहिनजी,' वीणा बोली, 'इससे वह सो नहीं पाता। पप्पू खिलौने के साथ बातें करने लगता है। फिर घंटों सो नहीं पाता। उसकी सारी नींद गायब हो जाती है।'

नन्हा-सा बालक, सफेद कुर्ते और सफेद पाजामे में खाट पर लेटा बड़ा मासूम और निरीह-सा लग रहा था। मुश्किल से खाट के एक-तिहाई भाग को ही उसका नन्हा-सा शरीर घेर पाया था।

'आपने सचमुच बच्चे को खूब सिखा रखा है।'

'सिखाती नहीं तो काम कैसे चलता,' वीणा बोली और उसे पप्पू के अनेक किस्से याद हो आए, 'पहले बड़ा नटखट हुआ करता था, आपको क्या बताऊं। चैन से बैठने ही नहीं देता था। जहां जाओ, साथ जाने के लिए चिपक जाता था, एक-एक चीज पर मचलने लगता था। अगर हम उस वक्त इसे ढील दे देते तो यह सचमुच बिगड़ जाता।' कहते-कहते वीणा को कोई किस्सा याद हो आया, 'आप जानती नहीं बहिनजी, यह कितना नटखट था। हमारे पिछले फ्लैट में, जिसमें हम रहते थे, एक छोटी-सी कोठरी थी। यह तब छोटा-सा था। हम इसे खटोले में डालकर बाहर से खटोले के दरवाजे के आर-पार रस्सी बांध देते ताकि यह बाहर निकल नहीं सके और यह पिदकू-सा, गांठ खोलकर बाहर आ जाता। एक बार इन्होंने कुछ नहीं तो पंद्रह गांठ लगाई होंगी और यह पूरी पंद्रह गांठें खोलकर बाहर निकल आया। ऐसा था यह पप्पू।...पर अब तंग नहीं करता।'

इस पर दिलीप ने, धीमी आवाज में, अपनी पत्नी को समझाते हुए कहा, 'पप्पू के सामने उसकी तारीफ नहीं किया करो। मैंने तुमसे पहले भी कहा था। इससे वह मचल जाता है।' फिर मेरी ओर देखकर बोला, 'अब सुबह फिर हाय-तौबा मचेगी। अब साहबजादे, सुबह सात बजे जा चुके।'

'चिंता नहीं करो जी, अगर नहीं जागा तो खिलौने का नाम लेकर जगा लूंगी। इससे जल्दी जाग जाएगा।' वीणा ने पति को ढाढ़स बंधाते हुए कहा।

लगभग साढ़े-नौ बजे रहे थे जब हम खाना खाने बैठे। हड़बड़ी में खाना खाया। हड़बड़ी में ही उठकर घर के लिए रवाना भी हो गए। घड़ी देखी तो सारा तकल्लुफ भूल, सीढ़ियों की ओर लपके। दिलीप बस तक छोड़ने साथ-साथ आया। बस में बैठे तो पत्नी ने पूछा, 'कोई बात हुई तुम्हारी? क्या कहते थे? खाने पर क्यों बुलाया था?'

'ज्यादा बात नहीं हुई। वक्त ही नहीं था। पर फिर भी इधर आते हुए दिलीप ने जैसे मेरे कान में बात डाल दी है।'

'क्या कहा?'

'कहने लगा, वीणा बी. एड. का कोर्स करना चाहती है। अगर तुम अपने मामू से कहकर उसे दाखिला दिलवा दो तो साल-भर में वह बी. एड. कर लेगी।'

मेरी पत्नी चुप हो गई। फिर धीरे-से बोली, 'इतनी-भर बात के लिए खाने पर बुलाया था? यह तो तुम्हें खत में भी लिखकर बता सकते थे। तुम्हारे दफ्तर में टेलीफोन भी कर सकते थे?' फिर मेरी ओर देखकर बोली, 'तुमने क्या कहा?'

'मैंने कहा—कोशिश करूंगा।' पत्नी फिर चुप हो गई।

'दिलीप खुद भी बैंक के कोर्स में नाम लिखवाना चाहता है। उसकी क्लासें शाम को लगती हैं। दफ्तर के बाद जाया करेगा। उसके लिए भी कह रहा था कि मैं मामाजी से कहकर उसकी सिफारिश करवाऊं ताकि उसे दाखिला मिल जाए।'

'दोनों दफ्तर में भी जाएंगे और कोर्स भी करेंगे तो पप्पू का क्या होगा?'

'मैंने दिलीप से यही पूछा था। कहने लगा, पप्पू अब कोई दूध-पीता बच्चा तो नहीं है ना, बड़ा हो गया है और धीरे-धीरे और भी बड़ा होता जाएगा। अब पप्पू की वजह से कैरियर को ताक पर तो नहीं रखा जा सकता ना। यही दिन हैं जब कुछ किया-कराया जा सकता है।'

बस घरघराती हुई अंधेरे में आगे बढ़ती जा रही थी।

❖

'कोई व्यक्ति अपने पड़ोसी को मुक्ति नहीं दिला सकता। व्यक्ति द्वारा किया गया दुष्कर्म उसी के साथ रहता है। जिस दुष्कर्म से वह बचता है वह केवल उसी का सरोकार था। हर व्यक्ति निजी तौर पर ही शुद्ध या अशुद्ध होता है। कोई व्यक्ति किसी और का शुद्धीकरण नहीं कर सकता।'

—भगवान बुद्ध

उद्भ्रांत की कविताएं

•
एक

महक रहा है
कब से
यह प्रतीक
शब्दों के जंगल में
समझ नहीं पाता हूं
बहुत खूबसूरत
यह फूल
गीत में कैसे खिल गया
मैं उस
प्राचीन मार्ग से ही तो
चला था
रास्ता नया
कैसे मिल गया

दहक रही है
रक्तिम
नई लीक
राहों के जंगल में
महक रहा है कब से यह प्रतीक
शब्दों के जंगल में

विगत कई सदियों से
चिपके
जो बासे संस्कार
सुनो!
दूर बहुत छूट गए
पुरखों के
कर्मकांड के
अंधे मानदंड
प्रातःकालीन सूर्य के स्वर से
टकरा कर टूट गए

चहक रही है
ताजी
युवा सीख
वृद्धों के जंगल में
महक रहा है कब से यह प्रतीक
शब्दों के जंगल में

•
दो

डूब गए
कुहरे में
फिर वे
सोने के पहाड़

जो पहाड़
उजलापन
बाँट रहे थे
बरसों से
अचरज है
दीख नहीं रहे मुझे
कल-परसों से
थे जहां पहाड़
वहां जल है
धुंध है
धुआं है
बादल है
डूब गए
पानी में
जादू-टोने के पहाड़

जो परबत
डूब गए
उन्हें
डूब ही जाने दो
मुझ को
फिर से
कविता
निर्माणों की
गाने दो
यह कविता
बहुत नई होगी
हर्षित होगा
मन का जोगी
निर्मित होंगे
मन के
सरगम होने के पहाड़
लो देखो
उभर रहे
कोहरे से
फिर वे
सोने के पहाड़ ❖

शीलन

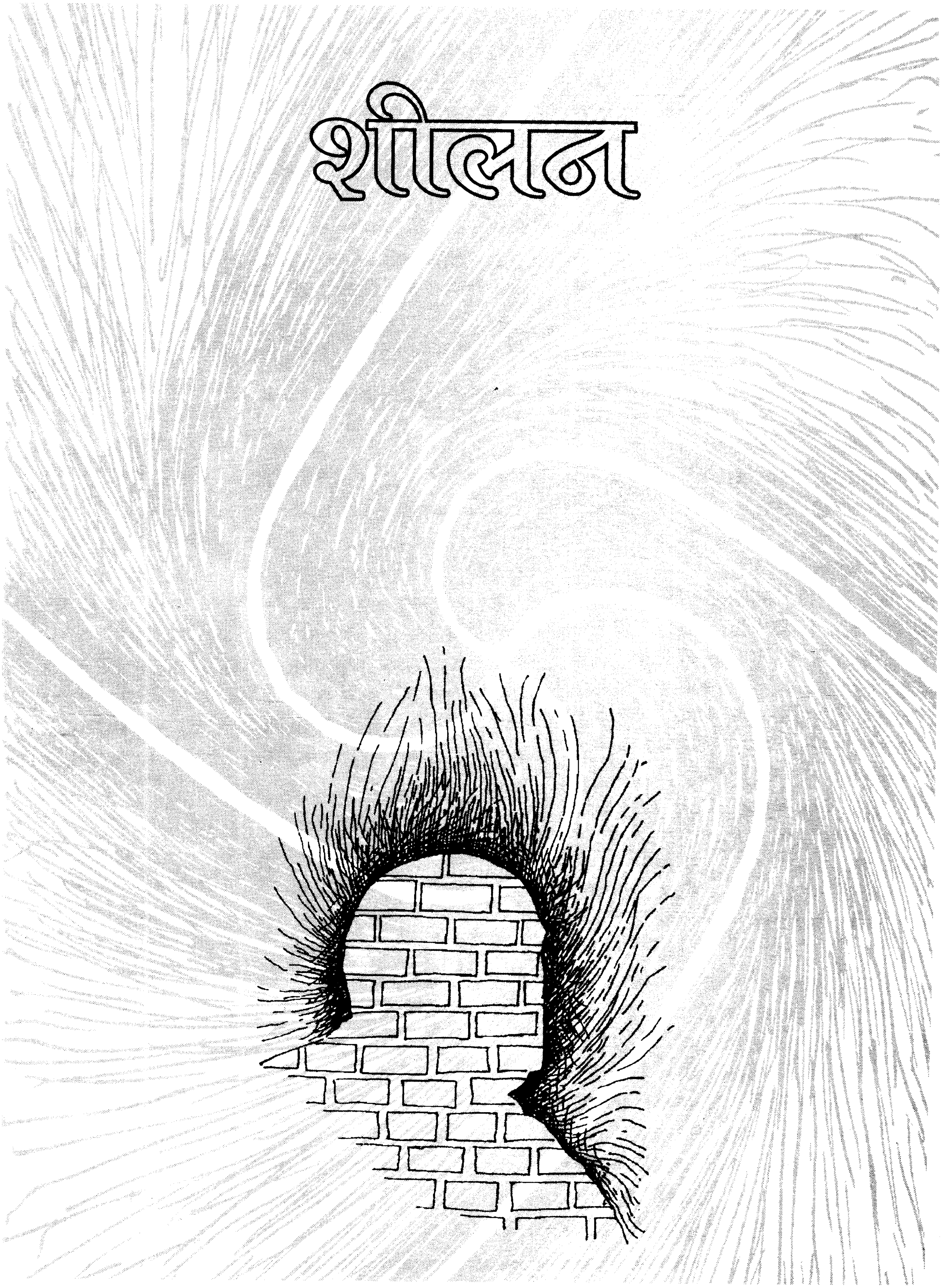

इस देश में प्राचीनकाल से 'बहुल' शब्द के स्थान पर 'सर्व' का प्रयोग होता आया है। सर्व में बहुल भी है, अल्प भी है; पर बहुल में एक तो संख्या की सीमा है, दूसरे एक-दूसरे की विभक्तता है। एक-दूसरे से अलगाव दिखना अपरिहार्य है। जब हम सबकी बात करते हैं तो अलग रहते हुए भी अलग कुछ प्रतीत नहीं होता। सब एक की ही छाया होता है। जब सबके कल्याण की बात सोचते हैं तो उनमें किसी के छूटने की बात नहीं होती, न किसी को तरजीह देने की बात होती है। बहुलता की बात करते समय कुछ को तरजीह देने की बात याद आती है। भारत की संस्कृति में 'सर्वता' का सिद्धांत केवल आध्यात्मिक चिंतन में ही नहीं रहा, वह जीवन के प्रत्येक व्यवहार में स्पष्ट में परिलक्षित होता रहा है। आप किसी भी शास्त्रीय या लोक-अनुष्ठान की बात करें, वहां पर समस्त प्राणियों, समस्त लोक को आमंत्रण देना, उनका सत्कार करना, समस्त भूतों के लिए उनका प्राप्त होना आवश्यक रहा है।

—**विद्यानिवास मिश्र**

समता का महत्त्व हर धर्म में उद्गीत हुआ है। भगवान महावीर के अनुसार समता में आर्य-धर्म प्रज्ञप्त है। गीता में समत्व को योग कहा है। योगशास्त्र में आचार्य हरिभद्र स्पष्ट कहते हैं कि 'न हि साम्येन विना ध्यानम्' अर्थात् साम्ययोग के बिना ध्यान-साधना के क्षेत्र में चरणन्यास नहीं किया जा सकता। चूर्णिकार जिनदासगणि कहते हैं कि जैसे आकाश सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही सामायिक सब गुणों की आधार-भूमि है। समभाव विशिष्ट लब्धियों का हेतुभूत है तथा सब पापों पर अंकुश लगाने वाला है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण इसके माहात्म्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि षडावश्यक में सामायिक प्रथम आवश्यक है। चतुर्विंशति आदि शेष पांच आवश्यक एक अपेक्षा से सामायिक के ही भेद हैं, क्योंकि सामायिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप है और चतुर्विंशति आदि में इन्हीं गुणों का समावेश हुआ है। उन्होंने सामायिक को चौदह पूर्वों का सार माना है।

❑ सामायिक आवश्यक का स्वरूप

❑ समणी डॉ. कुसुमप्रज्ञा

आवश्यक के छह भेद हैं, उनमें प्रथम आवश्यक सामयिक का विशेष महत्त्व है। आचार्य भद्रबाहु ने जितना विस्तार सामायिक का किया, उतना अन्य आवश्यकों का नहीं किया। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने तो सामायिक आवश्यक एवं उसकी निर्युक्ति पर ही अपनी विशिष्ट कृति लिखी, जो विशेषावश्यक भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। सामायिक की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि सम अर्थात् एकत्व रूप से आत्मा का आय-लाभ समाय है। समाय का भाव ही सामायिक है। इसका दूसरा निरुक्त इस प्रकार भी किया जा सकता है—'हिंसा के हेतुभूत जो आय-स्रोत हैं, उनका त्याग कर प्रवृत्ति को संयत करना समाय है। इस प्रयोजन से होने वाला प्रयत्न सामायिक है। वट्टकेर के अनुसार सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है—वह समय है, उसे ही सामायिक जानना चाहिए।[1] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने समय के स्थान पर समाय शब्द का प्रयोग करके सामायिक की यही व्याख्या की है। विशेषावश्यक भाष्य में सामायिक की व्याख्या अनेक निरुक्तों के माध्यम से की गई है।[2]

समता का महत्त्व हर धर्म में उद्गीत हुआ है। भगवान महावीर के अनुसार समता में आर्य-धर्म प्रज्ञप्त है। गीता में समत्व को योग कहा है।[3] योगशास्त्र में आचार्य हरिभद्र स्पष्ट कहते हैं कि **न हि साम्येन विना ध्यानम्** अर्थात् साम्ययोग के बिना ध्यान-साधना के क्षेत्र में चरणन्यास नहीं किया जा सकता।[4] चूर्णिकार जिनदासगणि कहते हैं कि जैसे आकाश सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही सामायिक सब गुणों की आधार-भूमि है। समभाव विशिष्ट लब्धियों का हेतुभूत है तथा सब पापों पर अंकुश लगाने वाला है।[5] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण इसके माहात्म्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि षडावश्यक में सामायिक प्रथम आवश्यक है। चतुर्विंशति आदि शेष पांच आवश्यक एक अपेक्षा से सामायिक के ही भेद हैं, क्योंकि सामायिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप है और चतुर्विंशति आदि में इन्हीं गुणों का समावेश हुआ है।[6] उन्होंने सामायिक को चौदह पूर्वों का सार माना है।[7]

समता का अर्थ है—मन की स्थिरता, राग-द्वेष का शमन और सुख-दुख में निश्चलता। विषम भावों से स्वयं को हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना समता है।

सामायिक चारित्र की अवस्थिति सभी तीर्थंकरों के समय में होती है, किंतु अन्य चारित्रों की अवस्थिति आवश्यक नहीं है। श्रावक के 12 व्रतों में सामायिक नौवें व्रत के रूप में प्रसिद्ध है तथा चार शिक्षाव्रतों में प्रथम स्थान

सामायिक को प्राप्त है। आचार्य वट्टकेर के अनुसार जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुख आदि में राग-द्वेष न करके इनमें समभाव रखना सामायिक है।[8] जिनदासगणि महत्तर ने सामायिक आवश्यक को आदि मंगल के रूप में स्वीकार किया है। उत्तराध्ययन सूत्र में गौतम भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं कि सामायिक करने से जीव को क्या लाभ होता है? इसके उत्तर में महावीर कहते हैं कि सामायिक से सावद्य योग अर्थात् पापकारी प्रवृत्ति से जीव की निवृत्ति होती है।[9] भगवती में पार्श्वापत्यीय कालास्यवेसी अनगार के पूछने पर स्थविर साधुओं ने कहा कि आत्मा ही सामायिक है।[10] आचार्य तुलसी के अनुसार मन, वाणी और क्रिया में संतुलन का अभ्यास ही सामायिक है।

सामायिक के प्रकार

सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र द्वारा समभाव में स्थिर रहा जा सकता है, अतः सामायिक के तीन भेद हैं—1. सम्यक्त्वसामायिक, 2. श्रुतसामायिक, 3. चारित्र-सामायिक। चारित्र सामायिक के दो भेद हैं—अगार सामायिक और अनगार सामायिक।[11] अगार सामायिक श्रावकों के तथा अनगार सामायिक साधुओं के होती है। अगार सामायिक अल्पकालिक एवं अनगार सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है। श्रुत सामायिक के भी तीन भेद हैं—1. सूत्र सामायिक, 2. अर्थ सामायिक, 3. तदुभय सामायिक।[12]

सामायिक का निर्गम (उद्भव)

वैशाख शुक्ला एकादशी को पूर्वाह्न काल में महासेनवन उद्यान में भगवान महावीर ने प्रथम बार सामायिक का निरूपण किया।[13] कर्ता के बारे में चर्चा करते हुए जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कहते हैं कि व्यवहार दृष्टि से सामायिक का प्रतिपादन तीर्थंकर और गणधरों ने किया, पर निश्चय दृष्टि से सामायिक का अनुष्ठान करने वाला ही सामायिक का कर्ता है।[14] प्रथम और अंतिम को छोड़कर शेष बावीस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं।[15]

सामायिक के निरुक्त

निर्युक्तिकार ने श्रुतसामायिक आदि तीनों सामायिकों की निरुक्तियों का उल्लेख किया है। आचार्य हरिभद्र ने निरुक्ति शब्द का अर्थ करते हुए क्रिया, कारक, भेद और पर्यायों द्वारा शब्दार्थ-कथन को निरुक्ति कहा है।[16] मलधारी हेमचंद्र ने निश्चित उक्ति को निरुक्ति कहा है।[17] यहां निरुक्ति शब्द से निर्युक्तिकार का क्या अभिप्राय था, यह आज स्पष्ट नहीं है, लेकिन इन शब्दों को आंशिक पर्यायवाची कहा जा सकता है। सम्यक्त्व सामायिक की सात निर्युक्तियां सम्यक्त्व की विविध विशेषताओं की द्योतक हैं। निर्युक्तिकार ने अक्षर, संज्ञी आदि श्रुत के चौदह भेदों को ही श्रुतसामायिक की निरुक्ति कहा है। इन्हें एकार्थक नहीं कहा जा सकता, लेकिन यहां श्रुत के भेदों को ही उसके निरुक्त के रूप में स्वीकृत किया है।[18] चारित्रसामायिक के छह और आठ निरुक्त क्रिया पर आधारित हैं। यहां चारित्रसामायिक प्राप्त करने के साधनों को ही उसकी निरुक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। सम्यक्त्वसामायिक के सात निरुक्त हैं—सम्यक्दृष्टि, अमोह, शोधि, सद्भावदर्शन, बोधि, अविपर्यय, सुदृष्टि।[19]

चारित्रसामायिक के दो भेद हैं—देशविरति और सर्वविरति। देशविरति सामायिक के 6 निरुक्त हैं—विरताविरति, संवृतासंवृत, बालपंडित, देशैकदेशविरति, अणुधर्म[20] और अगारधर्म।[21] सर्वविरति सामायिक की आठ निरुक्तियां हैं।[22]

1. सामायिक—सम-मध्यस्थभाव की आय-उपलब्धि।
2. समयिक—सभी जीवों के प्रति दया का भाव।
3. सम्यक्वाद—राग-द्वेष रहित यथार्थ-कथन।
4. समास—जीव की संसार-समुद्र से पारगामिता अथवा कर्मों का सम्यक् क्षेपण।
5. संक्षेप—महान अर्थ का अल्पाक्षरों में कथन।
6. अनवद्य—पापशून्य प्रक्रिया।
7. परिज्ञा—पाप के परित्याग का संपूर्ण ज्ञान।
8. प्रत्याख्यान—गुरु की साक्षी से हेय प्रवृत्ति से निवृत्ति।

आचार्य भद्रबाहु ने इन आठ निरुक्तियों में क्रमशः दमदंत, मुनि मेतार्य, कालकपृच्छा, चिलातपुत्र, ऋषि आत्रेय, धर्मरुचि, इलापुत्र और तेतलिपुत्र आदि आठ अनुष्ठानकर्ताओं के कथानक दिए हैं। ये आठों कथानक उत्कृष्ट समताभाव के निदर्शन हैं।

सामायिक के अधिकारी

सामायिक का अधिकारी कौन होता है? इसकी विस्तृत चर्चा आवश्यकनिर्युक्ति, मूलाचार आदि ग्रंथों में मिलती है। एक चिंतनीय प्रश्न यह है कि षडावश्यक में

वर्णित सामायिक और श्रावक के नित्यक्रम में की जाने वाली सामायिक में अंतर है या नहीं? इस बारे में आचार्यों ने विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया, लेकिन संभव यही लगता है कि षडावश्यक में वर्णित सामायिक का ही प्रायोगिक रूप यह सामायिक है। आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि सामायिक करते हुए श्रावक श्रमण की भांति हो जाता है।[23] वट्टकेर ने इस प्रसंग में एक उदाहरण देते हुए कहा है कि सामायिक करते हुए श्रावक के पास बाणों से विद्ध हरिण आकर मर गया फिर भी श्रावक ने सामायिक को भंग नहीं किया।[24]

सामायिक करने की अर्हता का वर्णन करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में जागरूक है, उसके सामायिक होती है। जो त्रस और स्थावर—सब प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, उसके सामायिक होती है।[25] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्न, पापभीरु, अशठ, क्षांत, दांत, गुप्त, स्थिरव्रती, जितेंद्रिय, ऋजु, मध्यस्थ, समित और साधुसंगति में रत—इन गुणों से संपन्न व्यक्ति सामायिक ग्रहण करने के योग्य होता है।[26]

आचार्य वट्टकेर के अनुसार सामायिक में परिणत वही जीव होता है, जिसने परीषह और उपसर्ग को जीत लिया है, जो भावना और समितियों में उपयुक्त है,[27] जो स्व तथा अन्य आत्माओं में समान है, सब महिलाओं में जिसकी दृष्टि मातृवत् है तथा जो प्रिय-अप्रिय एवं मान-अपमान आदि परिस्थितियों में समान है।[28] सैद्धांतिक ज्ञान के आधार पर जो द्रव्य, गुण और पर्यायों के समवाय एवं सद्भाव को जानता है, उसके उत्तम सामायिक सिद्ध होती है।[29] जो सर्व सावद्य योगों से विरत, तीन गुप्तियों से गुप्त एवं जितेंद्रिय होता है, वह संयमस्थान रूप उत्तम सामायिक में परिणत हो जाता है[30] फिर सामायिक और सामायिक-कर्ता में कोई भेद नहीं रहता।

सामायिक और क्षेत्र

सम्यक्त्वसामायिक की प्राप्ति तीनों लोकों में होती है। देशविरतिसामायिक की प्राप्ति केवल तिर्यक् लोक में तथा सर्वविरतिसामायिक की प्राप्ति मनुष्यलोक में होती है।[31] श्रुतसामायिक, सम्यक्त्वसामायिक तथा देशविरतिसामायिक के पूर्वप्रतिपन्नक नियमतः तीनों लोकों में होते हैं। सर्वविरतिसामायिक के पूर्वप्रतिपन्नक अधोलोक और तिरछे लोक में नियमतः होते हैं। ऊर्ध्वलोक में इसकी भजना है।[32]

महाविदेह क्षेत्र में सदैव चौथा अर रहता है, अतः वहां चारों सामायिक की प्रतिपत्ति हो सकती है। समय क्षेत्र के बाहर केवल तिर्यंच होते हैं, अतः वहां सर्वविरतिसामायिक को छोड़कर शेष तीन सामायिक की प्रतिपत्ति संभव है। नंदीश्वर आदि द्वीपों में विद्याचरण मुनियों के जाने से तथा देवों द्वारा संहरण होने से वहां सर्वविरतिसामायिक पूर्वप्रतिपन्नक हो सकता है।[33]

देवकुरु, उत्तरकुरु आदि अकर्मभूमियों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का अभाव होने से वहां केवल श्रुतसामायिक और सम्यक्त्वसामायिक का सद्भाव होता है।[34]

निर्युक्तिकार ने सामायिक का क्षेत्रस्पर्शना की दृष्टि से भी विचार किया है। सम्यक्त्वसामायिक और सर्वविरतिसामायिक से संपन्न जीव केवली समुद्घात के समय संपूर्ण लोक का स्पर्श करता है। श्रुतसामायिक और सर्वविरतिसामायिक से युक्त जीव इलिका गति से अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है, तब वह लोक के सप्तचतुर्दश (7/14) भाग का स्पर्श करता है। सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक से उपपन्न जीव छठी नारकी में इलिका गति से उत्पन्न होता है। इस अपेक्षा से वह लोक के पंचचतुर्दश (5/14) भाग का स्पर्श करता है। देशविरतिसामायिक से संपन्न जीव यदि इलिका गति से अच्युत देवलोक में उत्पन्न होता है तो 5/14 भाग का स्पर्श करता है। यदि अन्य देवलोकों में उत्पन्न होता है तो वह द्विचतुर्दश (2/14) आदि भागों का स्पर्श करता है।[35]

भगवान महावीर ने जिस उत्कृष्ट समता का जीवन जीया और दर्शन प्रस्तुत किया, उसका प्रायोगिक रूप सामायिक आवश्यक है। जहां साधु के लिए यह जीवन-भर करणीय है, वहां गृहस्थ के लिए एक मुहूर्त तक सामायिक—समता के अभ्यास का विधान है। 24 घंटे में हर घंटे से दो-दो मिनिट का समय निकाला जाए तो सामायिक प्रतिदिन हो सकती है। केवल प्रतिक्रमण के समय या काल-विशेष में ही सामायिक का उच्चारण करने योग्य नहीं, यह जीवन की हर क्रिया के साथ जुड़ी हुई है। ❖

संदर्भ

1. मूलाराधना 519;

सम्मत्त-णाण-संजम-तवेहि जं तं पसत्थसमगमणं।

समयं तु तं तु भणिदं, तमेव सामाइयं जाण।।

2. विभामहे गा. 3477-3486।

3. गीता 2/48; समत्वं योग उच्यते।
4. योगशास्त्र 4/114।
5. अनुयोगद्वार चूर्णि पृ. 18; समभावलक्खणं सव्वचरणादिगुणाधारं वोमं पिव सव्वदव्वाणं सव्वविसेसलद्धीण य हेतुभूतं पायं पावअंकुसदाणं।
6. विभा 906, महेटी पृ. 214।
7. (क) विभा 2796; सामइयं संखेवो, चोद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति।
(ख) तत्त्वार्थ वृत्ति 1/1।
8. मूला. 23;
जीविद-मरणे लाभालाभे संजोय-विप्पओगे य।
बंधुरि-सुह-दुक्खादिसु, समदा सामाइयं णाम।।
9. उ 29/9, आवनि. 503।
10. भ. 1/426 आया णे अज्जो सामाइए, आवनि 494; आया खलु सामइयं...
11. आवनि. 499।
12. आवनि. 500।
13. आवनि. 447;
वइसाहसुद्धएक्कारसीय, पुव्वण्हदेसकालम्मि।
महसेणवणुज्जाणे, अणंतर-परंपरं सेसं।।
14. विभामहे 3382;
केण कयं ति य ववहारओ जिणिंदेण गणहरेहिं च।
तस्सामिणा उ निच्छयनयस्स तत्तो जओऽणन्नं।।
15. मूला 535।
16. आवहाटी. 1, पृ. 242; क्रियाकारक-भेद-पर्यायैः शब्दार्थकथनं निरुक्तिः।
17. विभामहेटी पृ. 320; निश्चितोक्तिर्निरुक्तिः।
18. आवनि. 562।
19. आवनि. 561।
20. विभामहेटी पृ. 554; बृहत्साधुधर्मापेक्षयाऽणुरल्पो धर्मोऽणुधर्मः।
21. आवनि. 563।
22. आवनि. 564।
23. आवनि. 505, मूला 533।
24. मूला. 534।
25. आवनि. 501, 502, मूला. 525, 526।
26. विभामहे 3410, 3411।
27. मूलाराधना 520।
28. मूला. 521।
29. मूला. 522।
30. आवभा. 149, हाटी. 1, पृ. 218, मूला. 524।
31. आवनि. 510।
32. आवनि. 511।
33. विभामहे 2710, महेटी. पृ. 539।
34. विभामहेटी पृ. 539।
35. आवनि. 559, हाटी. 1, पृ. 242।

❖❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

जीवात्मा का परमात्मा के साथ, उपासक का उपास्य के साथ और भक्त का भगवान के साथ अनन्य भक्ति-प्रेममय संबंध का नाम ही स्तोत्र, स्तुति या स्तव है। स्तोता अपने स्तव्य के प्रति पूर्ण भक्ति-भावना से परिपूर्ण होता है, उसके मन में किसी प्रकार की कोई कामना, इच्छा शेष नहीं रहती। स्तोत्र के द्वारा भक्त परम-शांत मन वाला हो जाता है। स्तोत्र के माध्यम से वह अपने हृदयस्थ सुख-दुख रूप मानसिक भावों को प्रभु-चरणों में समर्पित कर देता है। अपना सब भार उन्हीं के ऊपर रखकर स्वयं उन्हीं का हो जाता है।

❑ स्तोत्र काव्य और आचार्य महाप्रज्ञ

❑ समणी संगीतप्रज्ञा

काव्य मानव-मन की झंकृति है। इसीलिए काव्य को देश-विशेष की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता है। वह समग्र मानव-संस्कृति से संबद्ध है। हम हर देश और हर भाषा में काव्य का अस्तित्व पाते हैं। साहित्य-मर्मज्ञों का मानना है कि भाषा की संरचना में अभिव्यक्ति का शुभारंभ काव्य से हुआ।

काव्य परंपरा अनादि काल से चली आ रही है। यह सहृदय मानव के अंतस्तल से प्रस्फुटित निर्मल स्रोतस्विनी है। काव्य-रचना यद्यपि सभी भाषाओं में अबाध गति से चली आ रही है, किंतु संस्कृत भाषा में रचित काव्य का जगत् अत्यंत प्रांजल और विकासमान रहा है। संस्कृत की अपनी एक विशेषता है। अल्पतम शब्दावली में विशद् भाव-राशि को संस्कृत सहजता और सरलता से अपने में समेट लेती है। संस्कृत के उपलब्ध साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन वैदिक वाङ्मय है। रचना की दृष्टि से इसे काव्य की कोटि में माना जाता है। यजुर्वेद में 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' कहकर वैदिक वाङ्मय को अजर-अमर देवकाव्य कहा गया है।

जैन परंपरा में काव्य का उद्भव कब से हुआ—काल गणना में नहीं बांधा जा सकता। उपलब्ध वाङ्मय के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर पहले ऐसे मनीषी हैं, जिन्होंने जैन काव्य के उन्नयन में अपना महनीय योगदान किया। सिद्धसेन से प्रारंभ हुई काव्यधारा उत्तरोत्तर विकास पाती गई। खंडकाव्य, प्रबंधकाव्य, मुक्तककाव्य के विकास के साथ-साथ स्तोत्र काव्य का भी प्रचुर विकास हुआ। इस विकास को भारत के काव्य वाङ्मय की अनमोल निधि का एक वरेण्य रत्न कहा जा सकता है।

आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी
—पिचासीवां जन्मोत्सव—
विनम्र हर्षाभिवादन

स्तोत्र काव्य की परंपरा का प्रादुर्भाव ऋग्वेद से माना जाता है। संहिताओं, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में भी इसके प्रयोग मिलते हैं। ऋग्वेद से प्रारंभ यह स्तोत्र परंपरा निर्बाध गति से चली आ रही है। जैन परंपरा के मनीषियों ने अपने आराध्य की स्तुति में अनेक स्तोत्रों की रचना की है।

स्तोत्र—उद्भव एवं स्वरूप

अहंकार-विलय, मोह-नाश, इंद्रिय-विषयों के प्रति अनासक्ति का भाव तथा स्व-आराध्य के प्रति सात्त्विक श्रद्धा से हृदय रूपी चिदाकाश में स्तोत्र उद्भूत होता है। भावातिरेक ही स्तुति काव्य का जीवन है। इसमें वस्तुतत्त्व नगण्य रहता है, पर भावतत्त्व की परिव्याप्ति प्रमुख रूप से पाई जाती है। गेयता और हृदयोद्गार संतुलित रूप में काव्य का सृजन करते हैं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (साहित्य दर्पण 1/5), 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शुद्धः काव्यम्' (रसगंगाधर 1/1)—आदि काव्य के लक्षण स्तोत्र साहित्य में घटित होते हैं। स्तोत्र का सामान्य अर्थ है—प्रशंसा, स्तुति, नुति, प्रशस्ति आदि। आप्टे ने रघुवंश के 'स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यंते दूराणि चरितानि ते'—उद्धरण को प्रस्तुत कर प्रशंसात्मक सूक्त अथवा गुण-कीर्तन को स्तुति कहा है।

स्तोता की भाषा विशुद्ध मानव हृदय की भाषा होती है। बुद्धि और तज्जन्य प्रपंचों का कोई प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। मधुर अनुभूतियां मधुरतम शब्दों में स्वतः ही अभिव्यक्त होती हैं। पावस में जिस प्रकार जीवनदायक पयोधरों की फुहार बीजों को अंकुरित कर देती है, उसी प्रकार हृदय की सघन अनुभूतियां मधुमय शब्दों में रससंचार करती हुई आराध्य के चरणों में स्वतः निवेदित हो जाती हैं। आशय यह है कि स्तोत्र 'भगवच्चरणारविंद' में आत्म-समर्पण को तो अभिव्यक्त करता ही है, साथ ही विभिन्न मनःस्थितियों को भी अभिव्यंजित कर देता है। दूसरे शब्दों में स्तव्य की गुण-स्तुति के साथ स्वयं के सुख और दुख की अनुभूति का प्रकाशन स्तोत्र-साहित्य में उन्मुक्त रूप से प्रकट होता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के स्तोत्र

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के विविध आयामी व्यक्तित्व ने संस्कृत काव्य रचनाओं का बेजोड़ रूप प्रस्तुत किया है। लगभग अठारह संस्कृत स्तोत्र काव्य उनके उपलब्ध होते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने केवल अपने आराध्य की ही स्तुति नहीं की है, अपितु जैन शासन की स्तुति भी उनके स्तोत्र काव्य में मिलती है। उनके स्तोत्रों में अष्टकों का बाहुल्य दिखलाई पड़ता है। अष्टक-बाहुल्य का कारण संभवतः आठ की संख्या का महत्त्व रहा है। जैन परंपरा में अष्टमंगल, आठ प्रातिहार्य, सिद्धों के आठ गुण, आठ कर्म, आठ रुचक प्रदेश, आठ प्रवचन माता, आठ गणि संपदा, आलोचना के आठ गुण आदि प्रतिपादित किए गए हैं। सुश्रुत के अनुसार आयुर्वेद के आठ प्रकार, पातंजल योगदर्शन के अनुसार अष्टांगयोग एवं छंदशास्त्र के अनुसार अनुष्टुप छंद के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं। इन सभी में आठ की संख्या का महत्त्व है। संभवतः इसी कारण आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भी आठ की संख्या को महत्त्व देते हुए अष्टकों के द्वारा अपने आराध्य का गणोत्कीर्तन किया है। महावीराष्टकम्, सत्संगाष्टकम्, वीतरागाष्टकम्, भिक्षु अष्टकम्, तुलसी अष्टकम् इत्यादि उनके द्वारा रचित प्रमुख अष्टक हैं।

स्तव्य और स्तोता की एकात्मकता

स्तोत्र काव्य से स्तोता के आत्माभिव्यंजन का भाव उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। हृदय के विभिन्न भाव नादमाधुर्य से भावित होकर संगीत ध्वनि के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। वस्तुतः संगीत एक ऐसी विधा है, जिसके माध्यम से स्तोता अपने स्तव्य के प्रति इतना एकाग्र हो जाता है कि स्तोता और स्तव्य में कोई अंतर ही नहीं रह जाता है। स्तोता अपनी वैयक्तिक अनुभूति को आराध्य के चरण-कमल पर उड़ेलकर अपने सुख-दुख का भार उसी पर छोड़ देता है। चित्त की चंचलता को छोड़, अपने आराध्य की अनंत शक्ति का संबल प्राप्त कर जागतिक कार्यों में विजय प्राप्त कर अपने आराध्य में ही एकमेक हो जाता है।

स्तोत्र के माध्यम से स्तव्य-स्तोता में एकात्मकता पाई जाती है। अतः स्तोत्रकाव्य में बोझिल शब्दाडंबर का कहीं स्थान नहीं होता और न भाषा की जटिलता को ही उसमें प्रोत्साहन मिलता है। स्तोत्रकाव्य में सरलता, सौंदर्य, आवेग और भावना का उमड़ता हुआ प्रवाह जन-मन को आप्लावित करता रहता है, या फिर प्रस्फुटित होता है अपने आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण। इन सभी तत्त्वों के चलते स्तोता अपने स्तव्य के साथ एकमेक हो जाता है।

त्वमसि मे प्राणधनं स्वामी, त्वमसि मे हृदयान्तर्यामी
त्वामहं न यथा विभजामि, तादृशीं वांछा विदधामि।
त्वमिति रूपमहं नथमल्लस्वयी मिलितोनुभवामि,
यामि तामेवपरामृष्टिम्॥ (सिद्धस्तवनम्, श्लोक-7)

अर्थात् देव! तुम मेरे प्राण धन हो। तुम मेरे हृदय के अंतर्यामी हो। मैं तुमसे भेद न करूं—ऐसी वांछा करता हूं। 'मैं और तुम'—इस अंतर को दूर करूं। मैं तुमसे मिलकर 'मैं' तुम ही हूं—ऐसा अनुभव करूं। प्रभो! मैं ऐसा ही परामर्श प्राप्त करूं। स्तोता-स्तव्य की एकात्मकता का यह सुंदर उदाहरण है।

आराधक और आराध्य में दूरी को पाटने का काम भावना का है। स्तोता अपने स्तव्य की दूरी को भाव की सांद्रता से पाट लेता है और अपने स्तव्य तक पहुंचकर एक हो जाता है। दुनिया में कोई भी ऐसा संबंध नहीं, जहां मोल-तोल या लेन-देन नहीं होता हो, स्वार्थ का व्यापार नहीं चलता हो—लेकिन स्तोता के स्तव्य का स्थान ऐसा होता है जहां केवल श्रद्धा होती है, आस्था होती है। यही ऐसा तत्त्व है—जो दो आत्माओं को जोड़ देता है और जहां 'तू' और 'मैं' का भेद पूरी तरह से मिट जाता है। इस नश्वर देह का वही एकमात्र सहारा बन जाता है—

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो, साधन और नाही आ
कलि में जाने होत निमेसे। भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो॥

आराध्य का स्वरूप

श्रद्धा और प्रेम से मनुष्य के हृदय में एक ऐसी

संयुक्त भावना का सृजन होता है कि जिससे स्तोता अपने स्तव्य के प्रति पूर्ण भक्ति, श्रद्धा एवं अनुराग से आप्लावित हो अपने आत्म-निवेदन के माध्यम से अपने आराध्य के गुणों को प्रकट करता है। आराध्य कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हो सकता, किंतु पतितपावन, परमेश्वर, परमात्मा, परमाराध्य तथा सर्वगुणसंपन्न महापुरुष ही हो सकता है अथवा जो दुख में काम आ सके, सर्वसमर्थ हो, स्वयमेव रागद्वेष से उपरत हो, सांसारिक बंधन जिसको प्राप्त कर स्वयमेव बंध गए हों अथवा सकल कालुष्य-कल्मष से विरहित प्रभु, स्वामी और गुरु आदि ही आराध्य हो सकते हैं। स्तोता अथवा भक्त को यह पूर्ण विश्वास होता है कि वह मेरी प्रार्थना को सुनेगा और मझधार में फंसी नौका को पार उतारेगा। यहां यह समझने की बात है कि महान आत्मा की आराधना कोई सामान्य जन नहीं कर सकता, अपितु प्रभु बनकर ही प्रभु की पूजा कर सकते हैं। इस भावना से मंडित मानव ही आराध्य की स्तुति करने में समर्थ हो सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी विराट कल्पनाकार के साथ-साथ स्वयं समर्थ हैं। अतः आराध्य की स्तुति में उन्होंने अपने आराध्य के स्वरूप को पूर्णरूपेण प्रकट किया है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के 'महावीरो वर्धमानः' नामक स्तोत्र में आराध्य का स्वरूप स्याद्वादी अनेकांतदृष्टिसंपन्न, चरित्रनिष्ठ, ध्यानी, प्रवचन-पटु, कर्मयोगी आदि गुणों से मंडित है। भगवान महावीर की महानता को प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

मैत्री सर्वजगत्गता विषमता संच्छिन्नमूला यतः,
स्वातंत्र्य स्वगतं प्रकाशम भजत् शक्तिं स्वकीयां विदत्।
जातिं लिंगमुपेक्ष्य शक्तिमनयद् धर्मः प्रसारोचितां,
तस्माद् वीरजीनाज्जगत् प्रतिपलं ज्योतिः रमां स्कंदताम्।

(महावीरो वर्धमानः, श्लोक-1)

अर्थात् भगवान महावीर के कारण मैत्री सर्वजगत् व्यापी हो गई, विषमता मूल से ही उखड़ गई, स्वतंत्रता को अपनी शक्ति का भान हुआ और उसे प्रकाश मिल गया। धर्म ने जाति और लिंग की उपेक्षा कर प्रसारोचित शक्ति प्राप्त की।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में भी आचार्य महाप्रज्ञ ने भगवान महावीर को प्रस्तुत किया है—

यं लोकाः समुपासते शिवधिया कर्मक्षये दक्षिणं,
यं ब्रह्मेति जना भजंति सततं चारित्रसंपादकम्।
यं नारायणभावतश्च दधते स्याद्वादपाथोधिगं,
विश्वात्मा भगवान पुनातु सकलान् वीरो जिनेंद्रो महान्॥

(महावीरो वर्धमानः, श्लोक-4)

अर्थात् कर्मक्षय में निपुण होने के कारण लोग जिसकी शिवरूप में उपासना करते हैं, चारित्र का संपादन करने के कारण लोग ब्रह्मा के रूप में जिसकी सेवा करते हैं और स्याद्वाद समुद्र का अवगाहन करने के कारण लोग जिसको नारायण के रूप में धारण करते हैं—वह विश्वात्मा भगवान जिनेंद्र महावीर सबकी रक्षा करें।

'भिक्षु अष्टकम्' में आचार्य भिक्षु के स्वरूप को दर्शाते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—आचार्य भिक्षु अकंपित, संकल्पी, स्थितप्रज्ञ, परीषहजयी, चरित्रनिष्ठ थे। सिद्धि का पांचवां सूत्र है—प्रशमसुख की अनुभूति। जब प्रशमसुख का झरना बहता है, तब बाहर की कोई भी स्थितियां उसको प्रभावित नहीं कर सकती। कहा भी गया है—

स्वर्गसुखानि परोक्षं, अत्यंतपरोक्षं, मोक्षसुखम्।
प्रशमसुखं च प्रत्यक्षं, न परवश न च व्ययप्राप्तम्॥

अतः आचार्य भिक्षु भी प्रशमसुख-संपन्न थे। 'प्रशमसुखवृष्टिरनुभवः'—(भिक्षु अष्टकम्)

इसी प्रकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने शिक्षा-गुरु, तेरापंथ धर्मसंघ के नवम अधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी के उदात्त चरित्र का 'तुलसी अष्टकम्' में सांगोपांग वर्णन किया है। वहां जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, उनसे आराध्य का स्वरूप स्वतः दृष्टिगोचर हो जाता है। तुलसी अष्टकम् के पांचवें श्लोक से लेकर आठवें श्लोक तक अपने आराध्य की अपूर्व समृद्धि का वर्णन किया गया है। यथा—

अपूर्व श्रीसंपत् प्रतिपदमहोभावमुखरा,
अपूर्वा ह्रीं संपत् सहजमनुशास्ति जनयति।
अपूर्वाधी समत् स्मृतिरपि विचित्राशयवती।

(तुलसी अष्टकम्, श्लोक-5)

विशेषणों में विशदचरित स्वामी तथा जगद्वंद्यः शब्दों का विनियोग किया गया है। जगद्वंद्य वही हो सकता है जो स्व-पर—सबके लिए कल्याणकारक होता है। आचार्य तुलसी का संपूर्ण जीवन दया, करुणा, मैत्री, मुदिता, शांति, अहिंसा के विकास के लिए ही समर्पित था। उनका हर कदम दूसरे के मंगल एवं कल्याण के लिए बढ़ता था। उनके प्रत्येक संगीत में विश्वमंगल का सुंदर गीत अनुगूंजित था।

इसलिए 'जगद्वंद्यः' कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है। आचार्य तुलसी के अतुल यश का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

श्रीमां तुलसी रामाणां यशसः संगमादहो।
सद्यो धवलितैर्जिग्येहस्तिमल्लेहि दिग्गजैः।।

अर्थात् तुलसी-राम के अतुल यश के संगम से दिग्गज इतने धवल हो गए हैं कि उन्होंने ऐरावत हाथी को भी जीत लिया है। 'श्री तुलसी स्तवनम्' में तुलसी को त्रिभुवन संसृत शुभ कीर्ति, भैक्षवशासन भर्ता, सामान्य जनों के भी उद्धारक कहकर उनकी महिमा को प्रस्तुत किया है—

निपुणजनेभ्यो बोधं दातुं, निपुणगणो बहुरस्ति।
मत्सन्निभबालाय तु भगवन्नस्ति तवैव प्रशस्तिः

(श्रीतुलसी स्तवः, श्लोक-5)

इस तरह कविवर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की संपूर्ण स्तोत्रमालिका में आराध्य का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

स्तोता का स्वरूप

स्तोता वही होता है जो अपनी सारी कामनाओं को आराध्य के पादारविंदों में समर्पित कर अपने-आप को पूरी तरह से प्रभु के सामने खोल देता है और कहता है—'पूज्य त्वदग्रे चरितं स्वकीयं जल्मामि'—स्तोता में प्रभुमयता या प्रभुलीनता का गुण परिलक्षित होता है।

'स्तोता स्यां तव शमार्णि'—(शब्दकल्पद्रुम) स्तोता की रचनाओं के माध्यम से भी इसके स्वरूप का ज्ञान स्वयमेव हो जाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के 'भिक्षु अष्टकम्' में वर्णित—'अलब्धेऽप्याहारे सुमतिरचलन्नो क्षणमपि'—से उनका अनासक्त भाव प्रकट हो रहा है। 'नयनमवतारं नयतु मे'—से इनका प्रभुमयता का गुण प्रकट हो रहा है। इन संस्कृत स्तोत्रों से आचार्य महाप्रज्ञ के अद्वितीय पांडित्य, गांभीर्य आदि गुणों के भी दर्शन होते हैं।

स्तोत्र से लाभ

जीवात्मा का परमात्मा के साथ, उपासक का उपास्य के साथ और भक्त का भगवान के साथ अनन्य भक्ति-प्रेममय संबंध का नाम ही स्तोत्र, स्तुति या स्तव है। स्तोता अपने स्तव्य के प्रति पूर्ण भक्ति-भावना से परिपूर्ण होता है, उसके मन में किसी प्रकार की कोई कामना, इच्छा शेष नहीं रहती। स्तोत्र के द्वारा भक्त परम-शांत मन वाला हो जाता है। स्तोत्र के माध्यम से वह अपने हृदयस्थ सुख-दुख रूप मानसिक भावों को प्रभु-चरणों में समर्पित कर देता है। अपना सब भार उन्हीं के ऊपर रखकर स्वयं उन्हीं का हो जाता है।

चंद्रमा की उज्ज्वल किरणों से जैसे रात्रि अपने स्वाभाविक अंधकार को छोड़कर झिलमिलाती चांदनी से सुंदर हो जाती है, वैसे ही हृदयाकाश में स्तोत्र प्रकट होते ही मोहरूपी अंधकार सात्त्विक श्रद्धा में बदल जाता है। उपास्य के प्रति श्रद्धा दृढ़ हो जाती है। भक्ति होते ही सांसारिक मोह, भय आदि का विनाश हो जाता है। प्रभु के नाम, गुण कथन, कीर्तन से स्तोता भगवद्भक्ति, सिद्धि एवं संसार-मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। श्रीमद्भागवत् में भी भगवत्-स्मरण से मुक्तिलाभ द्रष्टव्य है—

यः श्रद्धयैतत् भगवत्प्रियाणां पाण्डोः सुतानामपि संप्रयाणम्।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम्।।
पृथाप्यनुश्रुत्य धनंजयोदितं नाशं यदूनां भगवदगतिं च ताम्।
एकांतभक्त्या भगवत्यद्योक्षजे निवेशितात्मोपरराम ससृंते।।

(श्रीमद्भागवत पृ. 1.15.51, 1, 15, 33)

स्तोत्र द्वारा बड़ी-बड़ी विपत्तियों से मुक्ति मिलती है। प्राण-संकट उपस्थित होने पर स्तोत्र ही एकमात्र संबल बच रहता है। इसके अतिरिक्त स्तोत्र से सहज ही यश, कीर्ति, ऐहिक, आकस्मिक समृद्धि, दुखमुक्ति, व्यक्तित्व-विकास, सामाजिक शांति, राष्ट्रीय उन्नति, विश्वबंधुत्व आदि प्राप्त होते हैं।

यद्यपि स्तोता अपने स्तवय के प्रति पूर्ण भक्ति-भावना से ओतप्रोत होता है, उसके मन में किसी प्रकार की भौतिक कामना नहीं होती है, स्तोत्र में स्व आराध्य के ही गुणकीर्तन रहते हैं तथापि स्तव्य के सर्वसामर्थ्यवान् होने के कारण स्तोत्र में सहज ही स्वकल्याण और परकल्याण हेतु याचक भाव भी प्रस्फुटित हो जाता है।

स्व-कल्याण की कामना करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ 'सिद्धस्तवनम्' में कहते हैं—

जगति परितोऽपि भाति कष्टं, क्वापि नानंदपदं दृष्टम्।
मोहमणिमारूणिमाकृष्टं, मानसं मुग्धमिदं स्पष्टम्।
परमेश्वरपरमौषधं, शान्तिमयं प्रविदाय,
संहर संहरमोहरूजं मे, प्रयते तेन हिताय,
आयतौ प्रणये तव सृष्टिम्।।

(सिद्धस्तवनम्, श्लोक-1)

अर्थात् जगत् में चारों ओर कष्ट हैं, कहीं आनंद नहीं दिख रहा है। यह मन मोह की महिमा की अरुणिमा से आकृष्ट है और स्पष्टतया उसी में मूढ़ है। प्रभो! तुम मुझे

शांति प्रदान करने वाली, परम ईश्वर रूपी उत्कृष्ट औषध देकर मेरे मोह-रोग को नष्ट कर डालो, ताकि मैं अपने आत्महित के लिए प्रयत्न कर सकूं और भविष्य में तुम्हारे अनुशासन का पालन कर सकूं।

इसी तरह पर-कल्याण की कामना करते हुए 'महावीरो वर्द्धमानः' में वे कहते हैं—

श्रद्धाभूमौ वपतु विमलं बीजमाचारवल्ल्याः,
सम्यग्ज्ञानोदकपृषतकैः सिंचतु स्त्यानदृष्ट्या।

लोग श्रद्धा की भूमि में आचार की वल्ली का विमल बीज बोएं और उसे सघनदृष्टि से सम्यक् ज्ञानरूपी पानी की बूंदों से सींचें।

इस प्रकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के स्तोत्रकाव्य में स्तोत्र की सभी विशेषताओं के साथ स्तोता-स्तव्य की एकात्मकता, आराध्य व आराधक का स्वरूप एवं स्व-पर-कल्याण की भावना के दिग्दर्शन बहुत सबल रूप में होते हैं जो उन्हें स्तोत्रकाव्य की परंपरा में उच्च पद पर स्थापित करते हैं। ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. मुनि नथमल, अतुलातुला, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, 1976
2. डॉ. हरिशंकर पांडेय, आचार्य महाप्रज्ञ का संस्कृत साहित्य : एक अनुशीलन—जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं (राजस्थान), 1994
3. डॉ. हरिशंकर पांडेय, श्रीमद्भागवत की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन—जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं (राजस्थान), 1994
4. संकलन—मुनि नगराज, छत्रमुनि के संस्कृत-काव्य, चंदनमल सेंसकरण सुराणा, चूरू (राजस्थान), 1987
5. विद्यारानी अग्रवाल, स्तुतिकुसुमांजलि का दार्शनिक एवं काव्यशास्त्रीय अनुशीलन—श्रीअल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, 1990 ❖❖

काल का इतिहास हिंसा से अनिवार्य रूप से हमें अहिंसा की ओर बढ़ाता आया है, यह तथ्य कदाचित् सहसा कुछ लोगों को मान्य न होगा। एक-से-एक भीषण युद्ध की फसल हम बोते और काटते चले आ रहे हैं। युद्ध उत्तरोत्तर इतने विराट और व्यापक होते जा रहे हैं कि पहले की कल्पना तक वहां न पहुंचती थी। आधुनिक शस्त्रास्त्रों के मुकाबले में प्राचीनता के पास भला क्या था? अणु-बम और उद्जन बम की संहारशक्ति की तुलना में पुराण का कौन-सा ब्रह्मास्त्र ठहर सकता है? इस सबको देखते हुए यह दावा कि मानवता अहिंसा की ओर बढ़ी है, झूठा लग सकता है। पर झूठ वह है नहीं। युद्ध की विराटता ज्ञान-विज्ञान में से मिली है। उसमें कारण यह नहीं है कि आदमी का हिंस्रभाव पहले से बढ़ गया है। हिंसा में गौरव और गर्व अनुभव करने का भाव निश्चय ही मनुष्य में पहले से क्षीण हुआ है। हिंसा तो है, पर हिंसा का खुला समर्थन कहीं नहीं है। हिंसा को उत्तेजन है तो सीधे नहीं, आड़े-टेढ़े तरीके से—यानी सामने तो आदर्श के रूप में अहिंसा को ही लिया जाता है, फिर उसकी ओट में बुद्धि की प्रवंचना द्वारा हिंसा को ढंक भले रखा जाता है। इस प्रकार विश्व-युद्धों की परंपरा जो सामने देखते हुए भी यह निर्णय कि मानवता हठात और अनिवार्य अहिंसा की ओर बढ़ रही है, असत् नहीं ठहरेगा, बल्कि वह विज्ञान-सिद्ध और तर्क-संगत जान पड़ेगा।

—जैनेंद्रकुमार

गुरु हमें सिखाता है कि विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान के लिए हमें किस प्रकार व्याकुल रहना चाहिए, किस प्रकार पागल-जैसा बनना चाहिए। शिष्य को यह प्रतीत होता है कि गुरु मानो अनंत ज्ञान की मूर्ति है। गुरु मानो एक प्रतीक होता है। गुरु मानो मूर्त ज्ञान-पिपासा है। गुरु मानो अनंत ज्ञान की विकलता है। गुरु मानो सत्य के ज्ञान की उत्कटता है। हमारे गुरु का न आदि है, न अंत। हमारे गुरु का न पूर्व है, न पश्चिम। हमारा गुरु है परिपूर्णता।

❑ गुरु-शिष्य : भरने के लिए झुकना

❑ पांडुरंग सदाशिव साने

भारतीय संस्कृति में गुरुभक्ति एक अत्यंत मधुर काव्य है। ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी के तेरहवें अध्याय में इस गुरुभक्ति की अपार महिमा गाई है। बहुत-से लोग इस गुरुभक्ति का महान अर्थ नहीं समझते। आज चारों ओर दंभ बढ़ चुका है और जहां-तहां दिखावा बढ़ गया है। उच्च गुरुभक्ति का महान तत्त्व धूमिल हो गया है।

गुरु का अर्थ केवल शिक्षक नहीं है, केवल आचार्य नहीं है। शिक्षक अथवा आचार्य उस ज्ञान-विशेष से हमारा थोड़ा-बहुत परिचय करा देते हैं। हम उनका हाथ पकड़कर ज्ञान के आंगन में आते हैं। लेकिन गुरु हमें ज्ञान के सिंहासन पर ले जाता है। गुरु हमें उन ध्येयों के साथ एक-रूप कर देता है। ज्ञान में तन्मय हो जानेवाला गुरु शिष्य को भी समाधि अवस्था प्राप्त करा देता है। स्कूल में विद्यार्थी प्रश्न पूछते हैं लेकिन वहां गुरु के साथ बहुत-से प्रश्नोत्तर नहीं होते। यहां बिना बोले ही शंकाओं का समाधान हो जाता है, बिना कहे उत्तर मिल जाता है। यहां तो देखना और सुनना है। बिना बोले ही गुरु सिखा देता है और बिना पूछे शिष्य सीख जाता है। गुरु मानो उमड़ता हुआ ज्ञान-सागर है। सत्शिष्य का मुखचंद्र देखकर गुरु लहराने लगता है। गीता में ज्ञानार्जन के प्रकार बताए गए हैं :

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।'

यह ज्ञान प्रणाम करके, बार-बार पूछकर और सेवा करके प्राप्त करो। हम परिश्रम करके शिक्षक से ज्ञान प्राप्त करते हैं, लेकिन गुरु के पास तो प्रणाम और सेवा ही ज्ञान के दो मार्ग होते हैं। नम्रता ज्ञान का सच्चा आरंभ है। शिष्य गुरु के पास खाली मन लेकर जाता है। कुएं में अपार पानी है, लेकिन यदि बरतन नहीं झुके तो उस बरतन में एक बूंद भी पानी नहीं आ सकेगा। उसी प्रकार जो ज्ञान के सागर हैं, उनके सामने जब तक हम न झुकेंगे, उनके चरणों के पास चुपचाप नहीं बैठेंगे, तब तक हमें ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा। भरने के लिए झुकना ही पड़ता है। प्रगति करने के लिए झुकना ही पड़ता है।

संगीत सीखने की इच्छा रखनेवाला कोई लड़का किसी संगीत की पाठशाला में जाता है। वहां कुछ वर्षों तक वह संगीत सीखता है। लेकिन उसे संगीत का सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं होता। संगीत से उसका परिचय होता है, लेकिन संगीत की आत्मा उसे कब दिखाई देगी, कब समझ में आएगी? किसी महान गायक की संगति में जब वह साधक बनकर वर्षों तक रहेगा, उस गुरु की भक्ति और प्रेम के साथ सेवा करेगा, जब-जब गुरु अलापने लगे तब-तब नम्रतापूर्वक सारी इंद्रियों को एकाग्र करके उस राग को सुनेगा, तभी उसको सच्ची विद्या प्राप्त होगी। उसकी ऊबड़-खाबड़ विद्या सुसंस्कृत बनेगी, तेजस्वी बनेगी।

यह ज्ञानोपासक शिष्य की, जो केवल विनम्र बनकर आता है, जाति और कुल का विचार नहीं करता। गुरु तो केवल एक बात देखता है और वह है लगन। जब शत्रु-पक्ष का कच प्रेमपूर्वक शुक्राचार्य के चरणों में आया तब उन्होंने उसे संजीवनी-विद्या दी। आप कोई भी खाली घड़ा लेकर गुरु के पास जाइए और उसे झुकाइए, आपका घड़ा भर जाएगा।

गुरु संपूर्ण ज्ञान हमारी भेंट करता है। भिन्न-भिन्न ज्ञान-प्रांतों के अबतक के सारे ज्ञान से वह हमारा गठबंधन कर देता है। वह सारा भूतकाल हमें दिखा देता है, वर्तमान

से परिचय करा देता है और भविष्य का दिशादर्शन करा देता है। गुरु का मतलब है अबतक का संपूर्ण ज्ञान।

गुरु मानो एक प्रकार से हमारा ध्येय है। हमें जिस ज्ञान की पिपासा है वह अधिक यथार्थता से जिसके पास हमें प्रतीत होता है वही हमारा गुरु बन जाता है। गुरु-भक्ति का मतलब है एक प्रकार की ध्येय-भक्ति। गुरु शब्द की अपेक्षा ध्येय शब्द की योजना कीजिए। फिर आपको गुरुभक्ति पागलपन प्रतीत नहीं होगी। खिले हुए कमल के पास जिस प्रकार रस पीने के लिए गुंजार करता हुआ भौंरा अधीर होकर आता है, धीरे-से बैठता है और उसका रस पीते-पीते तल्लीन हो जाता है, यही स्थिति सत्‌शिष्य की गुरु के पास होती है। वह गुरु को लूट लेता है। गुरु को छोड़ता नहीं है। वह गुरु को खाली करने के लिए व्याकुल रहता है, लेकिन वह गुरु को उसी समय खाली कर सकेगा जबकि शिष्य स्वयं खाली होगा। अपने जीवन का बरतन जितना बड़ा और गहरा होगा, उतना ही हम गुरु से ले सकेंगे।

समर्थ ने लिखा है, 'अपनी लघुता का भान न छोड़ो।' हमें यह सदैव प्रतीत होना चाहिए कि अभी हम अज्ञान हैं, अभी हम खाली हैं, अभी हमें बहुत सीखना है। हमें सदैव कहना चाहिए कि 'अरे आगे! और आगे!' यही विकास का मार्ग है। जब हम यह कहते हैं कि सब बात समझ गया हूं, सब-कुछ सीख गया हूं, तो उसके कहते ही हमारा सारा ज्ञान रुक जाता है।

ध्येय सदैव बढ़ता ही रहता है। ध्येयरूपी गुरु अनंत है। उसकी जितनी ही सेवा कीजिए, वह अपर्याप्त ही रहेगी। जन्म-जन्म तक भक्ति करने पर ही शायद परिपूर्णता प्राप्त होगी। न्यूटन कहेगा, 'मेरा ज्ञान सिंधु में बिंदु की तरह है।' सुकरात कहेगा, 'मैंने इतना ही समझा कि मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है।'

गुरु हमें सिखाता है कि विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान के लिए हमें किस प्रकार व्याकुल रहना चाहिए, किस प्रकार पागल-जैसा बनना चाहिए। शिष्य को यह प्रतीत होता है कि गुरु मानो अनंत ज्ञान की मूर्ति है। गुरु मानो एक प्रतीक होता है। गुरु मानो मूर्त ज्ञान-पिपासा है। गुरु मानो अनंत ज्ञान की विकलता है। गुरु मानो सत्य के ज्ञान की उत्कटता है। हमारे गुरु का न आदि है, न अंत। हमारे गुरु का न पूर्व है, न पश्चिम। हमारा गुरु है परिपूर्णता।

ऐसे गुरु को कुछ भी देना नहीं पड़ता। उसको आप जितना दें, थोड़ा है। जितना दें, उतना बहुत है। मनु-स्मृति में कहा है, 'अरे, यदि तेरे पास देने के लिए कुछ भी न हो तो खड़ाऊं की एक जोड़ी ही दे दे। एक घड़ा पानी ही भर दे। एक फूल ही दे दे।' यह देखने की आवश्यकता नहीं है कि शिष्य ने कितना दिया है। वह जो-कुछ देता है, उसमें कृतज्ञता का सागर भरा रहता है। उसमें उसका हृदय जैसे उंडेला हुआ होता है।

यूरोप में यह बात कहने में बड़ा गर्व अनुभव किया जाता है कि मैं अमुक व्यक्ति का शिष्य हूं, मैंने अमुक व्यक्ति के चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त की है। सुकरात का शिष्य कहे जाने में प्लेटो अपने को धन्य मानता था। प्लेटो का शिष्य कहे जाने में अरस्तू अपने को कृतार्थ मानता था। इब्सन का अनुयायी कहा जाने में शॉ को बड़प्पन का अनुभव होता था और मार्क्स का शिष्य समझे जाने में लेनिन अपने को गौरवशाली समझता था।

यह भावना बहुत ऊंची है कि हम किसी के हैं। उस भावना में कृतज्ञता है। संसार में अकेले रिसालदार नहीं हैं। संसार में सहयोग है। इसे दूसरों से बहुत सहारा मिलता है। संसार में ऐसा कोई नहीं है जिसने सारा ज्ञान संपूर्ण स्वतंत्रता से प्राप्त कर लिया हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने आगेवालों के कंधे पर खड़ा रहता है और दूर की बात देखता है। ज्ञान का इतिहास मानो सहयोग का इतिहास है, अखंड परंपरा का इतिहास है।

सच्चा गुरु अपने शिष्य को प्रगति करता हुआ देखकर अपने को गौरवशाली अनुभव करता है। शिष्य से पराजित होने में गुरु को अपार आनंद मिलता है। बात यह है कि शिष्य की विजय गुरु की ही विजय होती है। गुरु ने जो-कुछ बोया है, वह उसी का विकास है। गुरु जिस ज्ञान की उपासना कर रहा था, वह उसी ज्ञान की पूजा होती है। वह उसी ज्ञान का बढ़ता हुआ वैभव होता है।

गुरु अपना सारा ज्ञान शिष्य को दे देता है। वह अपने पास छिपाकर कुछ भी नहीं रखता। अपना महत्त्व कहीं कम न हो जाए—इस डर से अपने ज्ञान की सारी पूंजी न देनेवाले अहंभावी गुरु बहुत हैं, लेकिन वे गुरु नहीं हैं। उनका ज्ञान उनके साथ ही मर जाता है। ऐसा कौन चाहेगा कि हमने जिस ज्ञान की उपासना की वह मिट जाए? सच्चा गुरु तो यही चाहता रहता है कि ज्ञान का वृक्ष बढ़ता रहे। गुरु ज्ञान के रूप में अमर रहता है। हमनें जो-कुछ कमाया है उसे दे डालना चाहिए। एक दिन रामकृष्ण परमहंस ने

शेष पृष्ठ 56 पर

राजकुमार ने आतुरता से प्रश्न पूछा। राजकुमारी ने बताया—'शर्त बहुत आसान है।' उसने अपने साथ आई एक टोकरी में बड़े जतन से रखे हुए गुलाब के दो फूल निकाले। फूल एकदम लाल थे और बड़े सुंदर दिखाई पड़ते थे। राजकुमारी ने दोनों फूल एक हाथ में लिए और फिर चार कदम पीछे से ही राजकुमार को फूल दिखाते हुए कहा—'अब दूर से खड़े होकर ही बतलाइए कि इन गुलाबों में से कौन-सा फूल असली गुलाब है? बस, केवल इतनी शर्त है।'

बालकथा

❑ कौन छोटा : कौन बड़ा

❑ प्रदीप पंत

एक था राजकुमार। वह चाहता था कि किसी रूपवती राजकुमारी से शादी करे और सुख से रहे। एक दिन सबेरे-सबेरे वह अपने विशाल महल के बगीचे में टहल रहा था। टहलते-टहलते थोड़ा थक गया तो हरी घास पर रखी आरामकुर्सी पर बैठ गया। यह आरामकुर्सी विशेष प्रकार की थी और केवल राजकुमार के लिए ही बनवाई गई थी। कुर्सी की विशेषता यह थी कि उस पर बैठते ही थकान दूर हो जाती और आंखें लग जातीं।

सबेरे की सुहानी हवा और आरामदेह कुर्सी! राजकुमार की पलकें तुरंत बंद हो गईं। लेकिन पलकें बंद किए अभी उसे थोड़ी ही देर हुई थी कि वह चौंककर उठ पड़ा। उसे महसूस हुआ कि नाक में जैसे किसी ने सुई चुभो दी हो। उसने नाक पर हाथ लगाया तो उसे लगा कि कोई उड़ने वाला कीड़ा काटकर हवा में उड़ गया है। राजकुमार ने इधर-उधर देखा, पर कोई नजर नहीं आया। देखते-देखते उसकी नाक फूल गई।

राजकुमार के सुंदर चेहरे पर फूली हुई नाक बड़ी अजीब-सी लग रही थी। वैसे राजकुमार था बड़ा हंसमुख, लेकिन उस कीड़े पर उसे बड़ा गुस्सा आया। उसने अपने मंत्री को बुलवाया और सारी बात बताते हुए कहा— 'देश-भर के उड़ने वाले सभी कीड़ों, मक्खियों और मधुमक्खियों को पकड़वाकर तुरंत मेरे सामने लाओ।'

फिर क्या था! मंत्री ने तुरंत राजकुमार के आदेश का पालन किया। देखते-देखते देश-भर की मक्खियों, मधुमक्खियों और उड़ने वाले अन्य कीड़ों को पकड़कर लाया गया। राजकुमार ने इन सब कीड़ों-मकोड़ों को डांटते हुए पूछा, 'यह किसकी हरकत है? सच-सच बताओ, नहीं तो सभी को मौत के घाट उतार दिया जाएगा।'

कीड़े-मकोड़े घबराए। सब एक-दूसरे का चेहरा देखने लगे। हरेक को लगा कि अब मौत निकट है। राजकुमार की नाक पर काटने वाले का पता न चला तो सभी को मृत्युदंड दे दिया जाएगा। सभी चिंतित थे। तभी भिनभिनाती हुई एक नन्ही-सी मधुमक्खी राजकुमार के सामने आई। उसने झुककर राजकुमार के प्रति आदर भाव प्रकट किया और फिर कहा— 'राजकुमार, यह गलती मेरी है।'

राजकुमार ने गुस्से से कहा—'तुम्हें मौत की सजा दी जाएगी। तुम्हारी यह हिम्मत!'

नन्ही मधुमक्खी ने बड़े आदरपूर्वक कहा— 'राजकुमार! इस भारी गलती के लिए मुझे बड़ा दुख है। मैं हाल ही में जन्मी हूं। मुझे अभी इतनी समझ नहीं है कि फूल, सेब और मनुष्य की नाक के बीच में अंतर कर सकूं। आपका चेहरा सुर्ख लाल है और नाक सेब की तरह। मैं उसे सेब समझकर उस पर लपक पड़ी,

लेकिन जैसे ही मुझे पता चला कि वह सेब नहीं, कुछ और है, आपके शरीर का कोई हिस्सा है, तो मैं डर के मारे फौरन भाग गई।'

नन्ही मधुमक्खी ने नाक की तुलना सेब से की तो गुस्से के बावजूद राजकुमार को हंसी आ गई।

नन्ही मधुमक्खी ने राजकुमार की हंसी का तुरंत फायदा उठाया और अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा—'लोग कहते हैं कि आप बड़ी-बड़ी गलतियां माफ कर देते हैं। मेरी गलती भी कोई छोटी-मोटी नहीं है, लेकिन यदि आप मुझे इस बार माफ कर दें, तो मैं फिर दोबारा ऐसी गलती कभी नहीं करूंगी। मैं आपका उपकार भी कभी नहीं भूलूंगी। फिर क्या पता, मैं कभी आपके काम ही आ जाऊं।'

राजकुमार को बित्ते-भर की उस मधुमक्खी की बात पर फिर हंसी आ गई। उसने कहा—'तुम अपनी मदद अपने-आप कर लो, यही बड़ी बात है। भला, हमारे क्या काम आओगी! हम तुम्हें क्षमा-दान देते हैं। अब दोबारा ऐसी गलती कभी न हो।'

नन्ही मधुमक्खी अन्य मधुमक्खियों के साथ भिनभिनाती हुई उड़ गई। सभी कीड़े-मकोड़े, मधुमक्खियां और मक्खियां खैर मना रही थीं कि चलो जान बची, नहीं तो एक-एक को मौत के घाट उतार दिया जाता।

लेकिन नन्ही मधुमक्खी के दिल में राजकुमार की बात लग गई। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि राजकुमार को कभी दिखा दूंगी कि मैं बित्ते-भर की मधुमक्खी किस प्रकार राजकुमार के काम आ सकती हूं!

राजकुमार की नाक धीरे-धीरे ठीक हो गई। अब वह पहले जैसा प्रसन्न रहने लगा। अचानक एक दिन शिकार के दौरान उसने पड़ोसी देश की राजकुमारी को देख लिया। वह उस पर रीझ उठा। उसने उसे अपने देश की यात्रा का निमंत्रण दिया। राजकुमारी फौरन राजी हो गई। कुछ दिन बाद वह सज-संवरकर राजकुमार के देश आई। राजकुमार ने उसे अपने महल में ही ठहराया। राजकुमार के मन में आया कि यह राजकुमारी इस महल में हमेशा के लिए रहने लगे, तो महल की शोभा में चार-चांद लग जाएं। बस, फिर क्या था! राजकुमार ने अपने दिल की बात राजकुमारी से कह दी।

राजकुमारी को पहले से ही इस बात का अनुमान हो गया था। उसने राजकुमार से कहा—'यदि आप मेरे एक प्रश्न का सही-सही उत्तर दे दें तो मैं आपसे अवश्य शादी कर लूंगी।'

राजकुमार ने आतुरता से प्रश्न पूछा। राजकुमारी ने बताया—'शर्त बहुत आसान है।' उसने अपने साथ आई एक टोकरी में बड़े जतन से रखे हुए गुलाब के दो फूल निकाले। फूल एकदम लाल थे और बड़े सुंदर दिखाई पड़ते थे। राजकुमारी ने दोनों फूल एक हाथ में लिए और फिर चार कदम पीछे से ही राजकुमार को फूल दिखाते हुए कहा—'अब दूर से खड़े होकर ही बतलाइए कि इन गुलाबों में से कौन-सा फूल असली गुलाब है? बस, केवल इतनी शर्त है।'

राजकुमार परेशान हो गया। वह आगे नहीं बढ़ सकता था। वह जहां खड़ा था, वहीं से उसे बताना था कि असली गुलाब का फूल कौन-सा है? परेशान-सा वह इधर-उधर देखने लगा। तभी उसकी नजर कमरे की खिड़की पर गई, जिसके बाहर उसका सुंदर-सा बगीचा था। खिड़की पर एक मधुमक्खी बार-बार भिनभिना रही थी कि जैसे अंदर आने को आतुर हो।

एकाएक राजकुमार चौंक उठा। उसने पास खड़े अपने मंत्री को खिड़की खोलने का आदेश दिया। मंत्री ने फौरन आदेश का पालन किया और लपककर खिड़की खोल दी। खिड़की का खुलना था कि भिनभिनाती हुई मधुमक्खी कमरे में आ गई। लेकिन यह सब राजकुमारी नहीं समझ सकी। राजकुमारी ही नहीं, मंत्री भी कुछ न समझ सका। असल में राजकुमारी और मंत्री में से किसी का ध्यान उस नन्ही मधुमक्खी की ओर गया भी नहीं था।

नन्ही मधुमक्खी कुछ देर कमरे में भिनभिनाती रही। उधर राजकुमार को असफल होता देखकर राजकुमारी मुस्करा रही थी। तभी भिनभिनाती हुई नन्ही मधुमक्खी राजकुमारी के हाथ के दाएं गुलाब पर जा

बैठी। वह कुछ देर चुपचाप गुलाब पर बैठी रही और उड़ती हुई खिड़की के रास्ते वापिस बगीचे की ओर चली गई।

राजकुमार के लिए इतना संकेत काफी था। उसने फौरन राजकुमारी के दाएं गुलाब की ओर संकेत करते हुए कहा—'यह रहा असली गुलाब!' मधुमक्खी असली गुलाब पर ही बैठती है—यह कौन नहीं जानता।

राजकुमार से सही उत्तर पाकर राजकुमारी ने विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। कुछ ही दिनों बाद दोनों का विवाह हो गया।

अब राजकुमार किसी को भी छोटा नहीं मानता था। उसे मालूम हो गया कि कोई प्राणी छोटा नहीं होता। जिसे हम छोटा समझते हैं, मौके पर वह बड़ी-से-बड़ी सहायता कर सकता है। ❖

गुरु-शिष्य : भरने के लिए झुकना पृष्ठ 53 का शेष

विवेकानंद से कहा, 'मैं आज तुझे सब-कुछ दे डालता हूं। मैं अपनी सारी साधना आज तुझमें उंडेल देता हूं।' वह क्षण कितना दिव्य होगा जबकि शिष्य को अपने जीवन का सब-कुछ अर्पण किया जाता है।

गुरु मानो विशिष्ट ज्ञान का प्रतीक है। यदि गुरु के विचार या सिद्धांत में कुछ भूल शिष्य को दिखाई दी तो सत्शिष्य उस भूल को नहीं छिपाएगा। गुरु के दिए हुए ज्ञान को अधिक निर्दोष बनाना ही गुरु की पूजा करना है। गुरु की भूलों को पकड़े नहीं रहना चाहिए। वह तो गुरु का अपमान होगा। ज्ञान की पूजा ही मानो गुरुभक्ति है। यदि गुरु जीवित होते तो उस भूल को दिखाने से उनको गुस्सा न आता। वह तो उल्टे शिष्य को गले लगा लेते। उससे अपने को गौरवशाली अनुभव करते।

गुरु अपनी अंधभक्ति पसंद नहीं करते। गुरु के सिद्धांतों को आगे बढ़ाना, उनके प्रयोगों को आगे चालू रखना ही उनकी सच्ची सेवा है। निर्भयतापूर्वक, किंतु साथ ही नम्रतापूर्वक ज्ञान की उपासना करते रहना ही गुरुभक्ति है। एक दृष्टि से सारा भूतकाल हमारा गुरु है। सारे पूर्वज हमारे गुरु हैं। लेकिन यदि भूतकाल की बातों में अब कुछ भूल दिखाई दे तो उसे दूर न करना मानो भूतकाल का अपमान करना है। भूतकाल की भ्रामक बातों को वैसे ही चलते रहने देना उचित नहीं। वह भूतकाल का गौरव नहीं है। वह पूर्वजों का गौरव नहीं है। उलटे इससे तो हमारे बड़े-बड़े पूर्वजों को अपना अपमान ही अनुभव होगा।

यदि अपने कुटुंब का प्रिय, पूज्य तथा कर्ता व्यक्ति मर जाता है तो हमें बुरा लगता है, लेकिन क्या उस मृत व्यक्ति को हम अपने मोह के वश होकर गले लगाए रहेंगे? अंत में उस प्रिय किंतु मृत व्यक्ति के शव को हमें अग्नि की भेंट करना ही पड़ता है। उस शव को घर में रखना मानो उसे सड़ने देना है। यह तो उस शव की फजीहत होगी। उसी प्रकार पूर्वजों की मृत रीति व सदोष विचारधारा को नम्रतापूर्वक तथा भक्तिभाव से तिलांजलि देना ही पूर्वजों की सेवा करना है। यह भूलना नहीं चाहिए कि गुरुभक्ति अंत में ज्ञानभक्ति ही है। पूर्वजों के सदनुभव के प्रति आदर, उनके प्रयत्नों के लिए आदर, उनके साहस, उनकी ज्ञान-निष्ठा के लिए आदर। गुरु की पूजा मानो सत्य की पूजा, ज्ञान की पूजा, अनुभव की पूजा, विचारों की पूजा है। जब तक मनुष्यों में ज्ञान-पिपासा है, ज्ञान के लिए आदर की भावना है तब तक संसार में गुरुभक्ति रहेगी।

भारत में 'गुरु' शब्द के स्थान पर 'सद्गुरु' शब्द की बड़ी महिमा है। सद्गुरु का अर्थ क्या है? गुरु विभिन्न ज्ञान-प्रांतों अथवा विभिन्न कलाओं में हमें आगे ले जाता है। लेकिन सद्गुरु जीवन की कला सिखाता है।

गीता में कहा है, 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' जीवन को सुंदर बनाना, अपने जीवन को निर्दोष, निष्काम, निरुपाधि करना ही सबसे बड़ी विद्या है और इसे सिखानेवाला ही सद्गुरु है।

संसार में शास्त्रों का चाहे कितना ही विकास क्यों न हो, लेकिन जब तक मनुष्य जीवन-कला नहीं साधता तब तक सब-कुछ व्यर्थ होगा। महर्षि टाल्स्टाय कहते थे कि 'पहले यह सीखो कि समाज में एक-दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। संत बताते हैं कि किस प्रकार जीवन मधुर बनाना चाहिए। रेडियो सुनने से संगीत नहीं सीखा जा सकता। तुम्हारे इस बाहरी ठाठ-बाठ से रोनेवाला संसार मधुर नहीं हो सकता। संगीत अंदर अंतरंग में ही शुरू हो जाना चाहिए। जीवन का यह सागर-संगीत सद्गुरु सिखाते हैं। वे हृदय में प्रकाश करते हैं। बुद्धि को सम बनाते हैं, प्रेम की आंखें देते हैं। वे काम-क्रोध आदि सर्पों के दांत गिराते हैं। वे द्वेष-मत्सर आदि सिंहों को बकरी बना देते हैं। इस प्रकार सद्गुरु एक बड़ा जादूगर है। ❖

With best compliments from :

卐

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053
Phone : (O) 22872355, 22253276, (R) 25534815

जैन भारती, जून, 2004 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

With Best Compliments From :

MICRO LABS LIMITED

MAKERS OF QUALITY HEALTHCARE PRODUCTS

Headed by
Sri Ghewarchand Surana, Chairman
Sri Dilip Surana, Managing Director
Sri Anand Surana, Director

303, Queens Corner, 3 Queens Road, Bangalore 560001

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।